धुल गये खून के हाथ

आचार्यश्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ धुल गये खून के हाथ

❖ संपादन : आचार्य श्री नानेश

❖ प्रथम संस्करण : जनवरी, 2010, 3100 प्रतियाँ

❖ मूल्य :

❖ अर्थ-सहयोगी :
.....

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर- 334005 (राज.)
दूरभाष : 0151.2544867, 3292177, 2203150 (Fax)

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : 9314962475

प्रकाशकीय

महिमा मण्डित स्व. आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के रतलाम चातुर्मास सन् 1988 में उन्हीं के तत्त्वावधान में जैन सिद्धांत विश्वकोष का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ। उसी के कथा खण्ड में अनेक कथाओं का भी संयोजन हुआ है। कुछ तकनीकी स्थितियों से उक्त कोष का प्रकाशन कार्य अब तक संभव नहीं हो पाया। कथा से आबाल-वृद्ध को सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है। हर वर्ग उसे रुचि से पढ़ता है। इसलिए कोष में संयोजित कथाओं के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इस लेखन-सम्पादन में श्री शांतिलालजी मेहता, कुम्भागढ़ (चित्तौड़गढ़) के अथाक परिश्रम को भुलाया नहीं जा सकता।

राजमल चौरड़िया

संयोजक-साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अनुक्रमणिका

❖	धुल गये खून के हाथ	:	5
❖	काला तन : उजला मन	:	13
❖	चरण-स्पर्श की चोट	:	19
❖	फिर से गिरे भाड़ में	:	26
❖	धन की बेड़ियाँ तोड़ें तो....	:	31
❖	चूड़ियों की खनक भी नहीं	:	39
❖	खून यूं खौलता है !	:	44
❖	व्यथा कथा कड़वे तुम्बे की	:	50
❖	चाहा क्या, मिल गया क्या ?	:	56
❖	पोट्टिला की प्रतिबोध शैली	:	63
❖	सोना कुन्दन बन गया	:	70
❖	वह बड़बोला बुड्ढा	:	75

धुल गये खून के हाथ

इस संसार में सारभूत है स्वयं की आत्मा, जिसके जाग जाने से वह अपनी आत्मा और संसार की सभी आत्माओं को सुख पहुँचाने में प्रेम और त्यागपूर्वक जुट जाता है। शुभ परिवर्तन इसे ही कहते हैं।

वह एक विचित्र मित्रता थी दो राजाओं के बीच। एक था कुणाल देश में श्रावस्ती का राजा जितशत्रु और दूसरा कैकय में श्वेताम्बिका नगर का शासक प्रदेशी राजा। उन दोनों की मित्रता की विचित्रता यह थी कि जहाँ राजा जितशत्रु जितना दयालु, धर्मनिष्ठ और सरल स्वभावी था, वहाँ राजा प्रदेशी उससे विपरीत क्रूर, अधर्मी और अहंकारी था। क्रूर इतना कि उसके हाथ सदा निरपराध प्राणियों के खून से रंगे रहते थे। वह अधर्म में आकंठ डूबा हुआ रहता था, फिर भी दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी और इसी मैत्री का योगदान रहा कि एक दिन प्रदेशी राजा के खूनभरे हाथ धुल गये।

दोनों नरेशों के मध्य मैत्री-सम्बन्ध ऐसे घनिष्ठ थे कि किसी के यहाँ कोई नयी वस्तु आती, तो वह उपहारस्वरूप दूसरे के यहाँ भी अवश्य पहुँचती। भेंटों का आदान-प्रदान तथा दूतों का आना-जाना भी बराबर बना रहता।

एक बार राजा प्रदेशी ने अपने मंत्री चित्त को कुछ अनूठे

उपहार देकर राजा जितशत्रु के पास भेजा और उसे यह भी निर्देश दिया कि वह वहाँ की राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करके लौटे। चित्तमंत्री श्रावस्ती पहुँचकर राजकीय अतिथि बना तथा वहाँ कुछ समय व्यतीत करने की दृष्टि से कार्य-व्यस्त हो गया।

उस समय श्रावस्ती में भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण केशी का पदार्पण हुआ। वे विद्वान आचार्य थे तथा उनका प्रतिबोध अतीव प्रभावकारी होता था। चित्तमंत्री भी आचार्य केशी का धर्मोपदेश श्रवण करने गया और उसका चित्त उससे ऐसा प्रभावित हुआ कि स्वयं ने तो श्रावक धर्म ग्रहण किया ही, किन्तु मन ही मन उसने यह भी निश्चय किया कि किसी प्रकार आचार्य केशी और अपने राजा प्रदेशी का वह मिलन करा दे, तो इन आचार्य के हाथों प्रदेशी अपने हिंसापूर्ण जीवन को छोड़कर धर्म के नवजीवन में प्रवेश कर सकता है। प्रतिदिन वह उनके प्रवचन-श्रवण का लाभ उठाता रहा। एक दिन अनुकूलता देख उसने आचार्य से विनती की- भन्ते ! एक बार श्वेताम्बिका नगरी भी पधारिए, ताकि आपकी अमृतवाणी का लाभ वहाँ के निवासियों को भी प्राप्त हो सके।

आचार्य ने उसकी इस विनती का कोई उत्तर नहीं दिया, वे मौन रहे। चित्त ने दूसरी बार और तीसरी बार पुनः-पुनः वही प्रार्थना की, तब भी आचार्यश्री ने प्रदेशी राजा की घोर अधार्मिकता का कारण भी बताया, जिससे वे अपना मानस नहीं बना पा रहे थे। उन्हें अपनी शरीर-हानि की चिन्ता नहीं थी, परन्तु धर्म और संघ की अवज्ञा की चिन्ता अवश्य थी। तब चित्त ने ही पुनः निवेदन किया- गुरुदेव ! आपको मैं धर्म की प्रभावना हेतु ही श्वेताम्बिका नगरी पधारने का अनुरोध कर रहा हूँ। आप किसी अन्य प्रकार का विचार न करें।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आचार्य केशी एकदा श्वेताम्बिका नगरी पधारे। उनके आगमन से नागरिकों में अपार हर्ष छा गया, क्योंकि वे अपने राजा के हिंसक कृत्यों से अतीव क्षुब्ध थे। अहिंसा की निर्मलता में प्रवेश करने का उन्हें शुभ अवसर प्राप्त होगा, यही उनके

अपार हर्ष का विशेष कारण था। नित्यप्रति प्रवचन-श्रवण करके तो उनकी विचारधारा में एक नया ही प्रवाह उमड़ पड़ा था।

उधर चित्तमंत्री इस प्रयास में था कि किसी प्रकार वह प्रदेशी को आचार्य से मिलवा दे। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से राजा अवश्यमेव प्रभावित होगा और वह प्रभाव ही उसके जीवन-परिवर्तन का हेतु बन सकेगा।

राजन् ! एक अश्व-व्यापारी ने कुछ नये अश्व प्रस्तुत किये हैं, उनकी परीक्षा करके देखना चाहिए कि वे क्रय योग्य हैं या नहीं और यदि क्रय योग्य हैं तो उनका क्रय-मूल्य क्या दिया जाये ? यह निर्णय और निर्धारण तो आप द्वारा ही किया जाना चाहिए। वित्तमंत्री ने राजा से निवेदन किया।

मंत्री ! तुम जानते हो ! नये-नये अश्व मुझे बहुत प्रिय होते हैं। मैं इस हेतु अवश्य चलूँगा और चलूँगा क्या, अभी ही चले चलते हैं- यह कहकर राजा प्रदेशी चलने के लिए अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। चित्तमंत्री का चित्त प्रसन्न हो गया, क्योंकि उसकी योजना का पहला सूत्र सफल हो गया था। राजा और मंत्री दोनों नये अश्वों के जुते हुए रथ में आरूढ़ हुए और वन प्रान्तर की ओर निकल पड़े। काफी घूमघाम कर वे मृगवन की दिशा में मुड़ गये, जहाँ राजा विश्राम करना चाहता था। वह रथ से उतर विश्राम हेतु कुछ आगे बढ़ा।

आचार्य केशी की धर्मदेशना चल रही थी। आचार्य के दर्शन तो राजा को उस समय नहीं हुए, किन्तु धर्म के शब्द सुनकर ही राजा ने अपने मंत्री को कहा कि वह उसे इधर कहाँ ले आया है। तभी उसकी दृष्टि आचार्य के मुखमंडल पर पड़ी। उसने चित्त से कहा- ये कौन है ? चित्त ने कहा- ये पार्श्व तीर्थंकर की परम्परा के हैं। प्रदेशी के मन में उत्कण्ठा जागी- क्या ये जीव और शरीर की भिन्नता बता सकते हैं ? चित्त ने कहा-अवश्य।

प्रदेशी राजा चित्त के साथ आगे बढ़कर धर्मसभा में पहुँचकर बैठ गया। चित्त की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था, क्योंकि अब उसे

विश्वास होने लगा था कि राजा के हृदय को यदि आचार्य केशी का पारस छू गया, तो लोहे के स्वर्ण में परिवर्तित हो जाने की पूरी-पूरी संभावना है। वह भी राजा के पीछे ही बैठ गया। आचार्य की देशना चल रही थी- इस संसार को ही सब कुछ समझकर जो हिंसा और अधर्म में डूबारहता है और धर्म के समीप नहीं पहुँचता, उसे एक दिन घोर पश्चात्ताप होता है। उसे दिखायी देने लगता है कि उसके खून भरे हाथ ऐसे हाथों को न्यौता दे रहे हैं, जो उसके खून से खेलेंगे और ऐसी यातनाएँ देंगे कि वह सह नहीं पायेगा। तब उसे संसार की असारता समझ में आयेगी। किन्तु जो इस असारता को पहले ही समझ जाता है और अपने जीवन में धार्मिक परिवर्तिन ले आता है, वह अपने भविष्य को सुखमय बना लेता है। इस संसार में सारभूत है स्वयं की आत्मा, जिसके जाग जाने से वह अपनी आत्मा और संसार की सभी आत्माओं को सुख पहुँचाने में प्रेम और त्यागपूर्वक जुट जाता है। शुभ परिवर्तन इसे ही कहते हैं।

राजा प्रदेशी यह सब सुनते हुए विचार-लहरों में डूब गया और अपने वर्तमान जीवन पर आलोचना की नजर दौड़ाने लगा, लेकिन उसका मन अज्ञान और शंकाओं का अब तक केन्द्र जो बना हुआ था। वहाँ से वे बादल तो छंटने ही चाहिए- उसे आत्मतत्व पर विश्वास तो होना ही चाहिए- वह सोचता रहा। उसे लगा कि विचारों के उस तूफान में आचार्य ही उसे उबार सकते हैं। धर्म-देशना समाप्त होते ही वह स्वतः आचार्यश्री के चरणों में पहुँच गया। चित्त को अपनी ओर से कोई प्रयास न करना पड़ा। राजा के अन्तःकरण में प्रबल जिज्ञासा भांति-भांति के प्रश्नचिह्न खड़े कर रही थी। उससे रहा न गया, वह आचार्य से प्रश्न करने लगा, मुझे यह मान्यता सत्य नहीं लगती कि आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक् हैं। मेरे प्रयोगों ने भी यह सिद्ध किया है कि आत्मा और शरीर एक हैं। एक प्रमाण निवेदन करूँ, मेरे पितामह भी आपके कथनानुसार बहुत अधार्मिक और हिंसक थे। वे मुझे बहुत प्यार करते

थे। आपके अनुसार यदि वे नरक में गये होते, तो मुझे आकर अवश्य सावधान करते, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। अतः मैं मानता हूँ कि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है।

आचार्य केशी ने राजा की शंका का समाधान करना आरंभ किया- राजन ! मैं पूछूँ यदि कोई तुम्हारी रानी सूर्यकान्ता के साथ बलात् सांसारिक भोग भोग ले, तो तुम उसे क्या दंड दोगे ?

प्रभु ! मैं उसे एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ूँगा, उसे सूली पर चढ़ा दूँगा।

किन्तु यदि वह प्रार्थना करे कि मैं अपने सम्बन्धियों को यह कह आऊँ, तब तक के लिए ठहर जाये, तो क्या तुम उसे थोड़ी-सी देर के लिए भी छोड़ दोगे ?

एक पल के लिए भी मैं उस पर विश्वास कैसे कर सकता हूँ ?

राजन ! इसी तरह नरक से भी परमधार्मिक देव यातना भुगत रहे जीव को एक पल के लिए भी छोड़ते नहीं है। फिर तुम्हारे पितामह यहाँ कैसे आवें और कैसे तुम्हें सावधानी दिलावें ?

अच्छा, यह बात मैंने मान ली, परन्तु मेरी दादी तो अत्यन्त धार्मिक थी, वह अवश्य स्वर्ग में गयी होगी। वह भी मुझे बहुत चाहती थी। वह तो आकर मुझे सावधानी दिला ही सकती है।

वह भी तुम्हें सावधानी नहीं दिला सकती, प्रदेशी। सोचो- यदि तुम नहा-धोकर पवित्र वस्त्र पहिन किसी पवित्र स्थान पर जा रहे हो, उस वक्त अगर अशुचि पर बैठा हुआ कोई पुरुष तुम्हें वहाँ कुछ देर बैठकर बातचीत करने के लिए बुलाये, तो क्या तुम जाना चाहोगे ?

नहीं, उस वक्त तो मैं उसके पास कतई नहीं जाना चाहूँगा।

इसी प्रकार तुम्हारी दादी भी स्वर्गलोक को छोड़कर इस दुर्गंध युक्त मनुष्यलोक में नहीं आना चाहती, चाहे वह तुम्हें सावधान करने की इच्छा भी रखती हो।

एक और उदाहरण सुनिए। मैंने एक चोर को जीवित ही लोहे की कुंभी में बन्द करवा दिया- ऊपर मजबूत ढक्कन लगवा दिया। उस पर सैनिकों का कड़ा पहरा भी था। सात दिन बाद कुंभी खोली गयी, तो चोर मरा हुआ था। यदि आत्मा शरीर से अलग होती, तो वह निकलती कैसे ?

प्रदेशी ! यदि एक चारों ओर से बन्द कोठरी हो, बाहर चारों ओर लिपी हुई और उसमें बैठा पुरुष यदि जोर-जोर से भेरी बजाये, तो क्या उसकी आवाज बाहर आयेगी या नहीं ?

हाँ ! वह शब्द तो बाहर निकलेगा।

तो राजन ! उसी तरह छिद्र न होने पर भी आत्मा बाहर निकल जाती है, जो शब्द और हवा से भी अधिक सूक्ष्म होती है।

मेरा एक और अनुभव है। मैंने एक जीवित चोर को लोहे की मजबूत कुंभी में बन्द करवा दिया और शीशे से सारे जोड़ भरवा दिये। सात दिन बाद उसे खुलवायी, तो चोर के शरीर में हजारों कृमि (कीड़े) तैर रहे थे। वे कहाँ से घुस गये ?

तुमने अग्नि में तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा। कठोर लौहपिंड में अग्नि कैसे घुस जाती है ? आत्मा तो अग्नि से भी सूक्ष्म होती है।

शरीर और आत्मा के एक होने का यह भी प्रमाण है कि धनुर्विधा में कुशल एक तरुण पुरुष एक साथ पाँच बाण फेंक सकता है, किन्तु वही कुशलता उसके बचपन में नहीं होती। कुशलता शरीर-वृद्धि के साथ बढ़ती है।

राजन ! आत्मा छोटी और बड़ी नहीं होती। यह तो उपकरण की बात है। बालक में शिक्षा का उपकरण नहीं होता, तो तरुण को भी यदि सड़ा हुआ पुराना धनुष व गली हुई डोरी दी जाये, तो वह भी एक साथ पाँच बाण नहीं फेंक सकेगा।

यदि आत्मा शरीर से भिन्न होती, तो तरुण और वृद्ध की भार-वहन क्षमता में अन्तर नहीं होता।

प्रदेशी ! यह भी उपकरण या साधन का ही प्रश्न है। शारीरिक शक्ति भी एक साधन रूप होती है।

मेरा एक और प्रयोग सुनिए, मैंने एक चोर को जीवित तुलवाया और फिर मर जाने के बाद। दोनों के तोल में कोई अन्तर नहीं आया, इसका यही अर्थ निकलता है कि शरीर और जीव एक है, अलग नहीं। शरीर ही जीव है।

राजन ! एक चमड़े की मशक में हवा भरकर तोलो और फिर हवा निकाल कर तोलो। क्या दोनों तोल में कोई अन्तर आयेगा ? नहीं आयेगा और जीव तो हवा से भी सूक्ष्म होता है।

जीव देखने के लिए मैंने एक चोर को चारों ओर से भेद डाला, छेद डाला, उसके टुकड़े-टुकड़े करवा दिये, पर मुझे जीव कहीं नहीं दिखायी दिया।

प्रदेशी ! क्या तुम भी उस लकड़हारे की तरह मूर्ख हो, जो अरणी की लकड़ी को चीर-चीर कर उसमें आग ढूँढ रहा था ? आत्मा तो सारे शरीर में व्याप्त होती है और शरीर की प्रत्येक क्रिया आत्मा की विद्यमानता के कारण होती है।

आप मुझे मूर्ख कह रहे हैं, किन्तु आपसे प्रतिबोध और ज्ञान का प्रकाश पाकर अब मैं मूर्ख नहीं रह गया हूँ- विनयपूर्वक इतना कहकर प्रदेशी राजा आचार्य केशी श्रमण के चरणों में गिर गया। वह उपासक बना और उसने श्रावक धर्म अपनाया। राजा प्रदेशी की आंखें खुल गयीं और वह अति निष्ठापूर्वक धर्मा राधना करने लगा। आचार्य केशी के प्रभावपूर्ण सान्निध्य ने उसे एक नया प्रदेशी बना दिया था। अधार्मिक से धार्मिक, क्रूर हिंसक से दृढ़ अहिंसक और अहंकारी से सरल स्वभावी।

परिवर्तन के पूर्व प्रदेशी राजा सबको कष्ट पहुँचाया करता था, किन्तु परिवर्तन के पश्चात् उस उपासक को भी कसौटी पर चढ़ाया गया- सामान्य कसौटी नहीं, वह मरणान्त कसौटी थी। उपासक बनने

के बाद वह सांसारिक भोगों से विमुख हो गया, तो उसकी सूर्यकान्ता रानी उसकी शत्रु हो गयी। राजा धर्म में अनुरक्त और रानी वासना में लिप्त, कैसे सहे वह उस राजा पति को ? उसने उसे विष ही दे डाला। संयोग से विष ने अपना काम पूरा नहीं किया, पर राजा की विरक्ति और बढ़ गयी, लेकिन रानी या किसी पर कोई द्वेष या रोष नहीं, सबके प्रति मात्र सम और शान्त भाव।

प्रदेशी राजा की आत्मा की उज्ज्वलता बढ़ती गयी, क्योंकि उसने आत्मा और शरीर की पृथक्ता को आत्मसात् कर लिया था।

स्रोत- राजप्रश्नीय सूत्र।

सार- आत्मा और शरीर पृथक् पृथक् होते हैं। अतः जब तक शरीर-मोह नहीं हटता, आत्मा में उत्क्रान्ति नहीं होती।

❖ ❖ ❖

काला तन : उजला मन

विष को कोई नहीं सहता, चाहे वह विष क्रोध और अहंकार का भी हो। सोमदेव ब्राह्मण के रूप में उसने रूप, जाति और ऐश्वर्य का मद रूप विष बढ़ाया था, उसका परिणाम हरिकेशबल के रूप में सामने है।

बसन्त की सुहावनी ऋतु सब कुछ उजला-उजला। आकाश उजला, सरोवर उजला, फूल उजले और उजली सूर्याभा में सारा वातावरण उजला। लेकिन उजला नहीं था, बलकोठ का काला तन। वह हरिकेश चांडाल का पुत्र था। अतः उसे हरिकेश बल के नाम से ही पुकारा जाता था।

नगर के बाहर उद्यान में वसन्तोत्सव मनाया जा रहा था। नगर के स्त्री, पुरुष और बाल सुन्दर परिधानों से सज्जित प्रसन्नवदन इधर-उधर किलोलें कर रहे थे। किन्तु बुझा हुआ चेहरा लेकर हरिकेश बल उद्यान में एक कोने में खड़ा-खड़ा भीषण क्रोध से जैसे फूंकारे मार रहा था। वह स्वभाव से अत्यन्त क्रोधी था और इस समय उसका क्रोध फूट रहा था, अपने ही कौवे जैसे स्याह काले तन पर। तन तो काला था ही, मन भी स्याह काला हो रहा था उसका। इस सारे उजले वातावरण में जैसे उसका काला रंग ही सारे रंगों को बदरंग बना रहा था।

हरिकेश बल का क्रोध जब सीमा पार करने लगा, तो वह बदलने लगा खेद में और खेद बदला विचारमग्नता में। विचार-मग्न होकर वह सोचने लगा- आखिर क्यों है इतना कुरूप और काला तन मेरा, जो किसी की दृष्टि मुझपर पड़ते ही घोर घृणा के साथ वापिस दूसरी ओर घूम जाती है ? चांडाल हुआ, तो क्या हुआ। चांडाल तो और भी कई हैं, लेकिन मेरे जैसा काला तो कोई नहीं ? आखिर मेरे ऐसे कौनसे कर्म उदय में आये हैं, जिन्होंने मेरे रूप-स्वरूप को इतना घृणित बना दिया है ?

हरिकेश बल की विचारधारा गहरे से गहरे पैठती गयी और उसके अन्तःकरण में एक चित्र उभरने लगा- पूर्वजन्म में वह सोमदेव नामक ब्राह्मण था- उजला तन, लेकिन निपट काला मन। एक दिन वह अपने भव्य भवन के गवाक्ष में बैठा हुआ था कि उधर से मुनि शंख निकले, जो पहले मथुरा नगरी के राजा थे। उन्हें हस्तिनापुर जाना था और वहाँ से हस्तिनापुर के लिए दो अलग-अलग मार्ग शुरू होते थे। एक का नाम हुताशन था, जो सारे दिन तपे हुए तवे की तरह जलता रहता था, जिस पर भूल से चले जानेवाले पथिक के प्राण नहीं बचते थे। दूसरा सही और सरल मार्ग था। मुनि शंख ने सोमदेव से हस्तिनापुर जाने का सही मार्ग पूछा। सोमदेव सदा क्रोध और द्वेष की आग में जलता रहता था। उसने मुनि को हुताशन मार्ग बता दिया। मुनि उधर मुड़ गये। तमाशा देखने के लिए सोमदेव भी पीछे-पीछे चला। क्या देखा उसने कि मुनि के पादस्पर्श से वह मार्ग बर्फ के समान शीतल हो गया है। मुनि के इस महान् पुण्य-प्रभाव को देखकर उसके पापी मन ने प्रायश्चित्त करने की ठान ली। मुनि शंख के पास ही उसने दीक्षा ली और मरकर देवगति प्राप्त की।

पहले का सोमदेव ब्राह्मण और अभी का हरिकेश बल चांडाल काले और उजले का अन्तर आँकने लगा। पहले उजला तन था, पर काला मन था। काले मन ने अब काला तन दिया है और आगे अब मन को भी काला ही बनते रहने दिया, तो आगे जाकर तन-मन दोनों

का क्या हाल बेहाल होगा ? इस काले तन में बसे अपने मन को अगर अब मैं उजले से उजला बनाता चलूँ तो आगे सबकुछ उजला ही उजला हो जायेगा।

इसी समय उद्यान में उसके सामने ही एक घटना घटी। एक भयंकर विषधर अपनी बाँबी से बाहर निकला। लोगों ने उसे देखते ही मार दिया, कारण उसके विष से सब को खतरा था। वहाँ कुछ ही क्षणों बाद एक दूसरा निर्विष सर्प निकला, किसी ने उसे छेड़ा भी नहीं। हरिकेशबल का मन आन्दोलित हो उठा। विष को कोई नहीं सहता, चाहे वह विष क्रोध और अहंकार का भी हो। सोमदेव ब्राह्मण के रूप में उसने रूप, जाति और ऐश्वर्य का मद रूप विष बढ़ाया था, उसका परिणाम हरिकेशबल के रूप में सामने है। अब भी यदि वह विष को बढ़ाता रहेगा, तो क्या दशा हो सकती है उसकी ? और यदि वह निर्विष बन जाये, तो क्या उसका उजला मन चारों ओर उजलापन नहीं फैला देगा ? उस ने दीक्षा ग्रहण करली और संयम व तप का कठोर आचरण करते हुए विचरण करने लगा।

मुनि हरिकेशबल विहार करते हुए वाराणसी पधारे। वहाँ वे तेंदुक उद्यान में ठहरे। मुनि तो अपने संयम-तप की आराधना में निमग्न थे, किन्तु उनके उत्कृष्ट साधुत्व से प्रभावित होकर वहाँ का एक गंडीतिदुग नामक यक्ष उनका परम भक्त हो गया। मुनि ने इस तथ्य की कोई जानकारी नहीं ली, परन्तु यक्ष रात-दिन मुनि की सेवा में रहने लगाा

वाराणसी के राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा अत्यन्त रूपवती थी। उसे अपने सौन्दर्य एवं यौवन पर गरूर भी बहुत था। एक बार वह अपनी सहेलियों-सहित उद्यान में उस यक्ष की पूजा हेतु आयी। इस हेतु ज्यों ही वह यक्षायतन में घुसी कि उसे मुनि हरिकेशबल दिखायी दे गये, जो ध्यानमग्न थे। उनके काले और कृश तन को देख घृणावश उसने मुनि पर थूक दिया। मुनि तो ध्यान में थे, उन्हें कुछ ज्ञात भी नहीं हुआ, लेकिन उनका भक्त यक्ष राजकुमारी के उस दुष्कृत्य को सह न

सका। मुनि के उस भयंकर अपमान पर उसने चमत्कार दिखाया। वह भद्रा के शरीर में प्रविष्ट हो गया और तुरन्त भद्रा पागलों की तरह प्रलाप करने लगी। सहेलियों ने बड़ी कठिनाई से उसे राजमहल पहुँचाया। उसका उपचार अनेक वैद्यों व तांत्रिकों से कराया गया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। राजा चिन्तित हो उठा।

तब यक्ष ने प्रकट होकर कहा- इस राजकुमारी ने महान तपस्वी सन्त की निन्दनीय अवहेलना की है इसका उपचार सफल नहीं होगा। हाँ, एक काम किया जाये, तो वह अच्छी हो जायगी और वह यह कि इसका पाणिग्रहण उन्हीं मुनि के साथ कर दिया जाय। राजकुमारी की जीवनरक्षा के लिए राजा ने यह बात स्वीकार करली। विवाह के योग्य वस्त्रालंकारों से सजाकर और विवाह-सामग्री सहित राजकुमारी को साथ लेकर राजा उद्यान के यक्षातन में पहुँचा। मुनि को नमनकर उसने प्रार्थना की- मुनिवर मेरी इस कन्या को आप स्वीकार करें।

मुनि चौंके कि यह क्या बात है ? वे बोले- मैं तो संसार को त्यागकर श्रमण निर्ग्रंथ बना हूँ। कन्या को स्वीकार करने की बात का तो प्रश्न ही नहीं, जिस स्थान पर कन्या या महिला रहती हो, वहाँ हम श्रमण ठहरते भी नहीं हैं। पाणिग्रहण की बात तो दूर, हम स्त्रियों की आसक्ति में भी नहीं पड़ते हैं- मुनि ने कहा और ध्यानस्थ हो गये।

कुछ समय बाद की घटना है कि राजा ने एक विराट यज्ञ का आयोजन किया। दूर-दूर के ऋषि और राजा उस यज्ञ में पहुँचे, जिनके लिए विविध प्रकार का स्वादिष्ट भोजन तैयार किया गया। मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का उग्र तप कर रहे थे। पारणे के दिन भिक्षा के लिए संयोग से वे भी यज्ञमंडप में पहुँच गये। मुनि के अपरूप को देखकर जातिमद से उन्मत्त बने ब्राह्मण खिल खिलाकर उनका उपहास करते हुए भाँति-भाँति से कटाक्ष करने लगे कि यह काला-कलूटा नरपिशाच इस पवित्र स्थान पर कहाँ से आ गया है? इसे यहाँ से तुरन्त हटाओ।

मुनि तो शान्त-प्रशान्त बने खड़े रहे, पर यक्ष मुनि का अपमान

सह न सका और वह उन के शरीर में प्रवेश कर गया। तब उसने कहा- मैं संयमी श्रमण और निर्ग्रंथ हूँ, भिक्षा के लिए आया हूँ। जो भोजन बन रहा है, उसमें से प्रासुक आहार मुझे दीजिए।

यज्ञ के व्यवस्थापक रुद्रदेव ने इस का उत्तर दिया- यह भोजन ब्राह्मणों के लिए है, इसमें से हम तुम्हें कुछ भी नहीं देंगे।

यक्ष बोला- तुम किसान जितनी बुद्धि तो रखो कि बीज वहाँ बोना चाहिए, जहाँ अंकुर फूटने की आशा हो। मुझे दान देने से तुम्हें लाभ मिलेगा।

रुद्रदेव ने कहा- हम ब्राह्मण हैं, बुद्धि के भंडार हैं। ब्राह्मणों से बढ़कर कोई उत्तम क्षेत्र नहीं होता। सिर्फ वहीं बीज बोया जाना चाहिए।

यक्ष कहने लगा- जो ब्राह्मण, क्रोध, मान, माया और लोभ से ग्रसित हों, वे जाति से भले ब्राह्मण कहे जायें, पर गुणों से वे ब्राह्मण नहीं होते। उन्हें उत्तम क्षेत्र कहना उचित नहीं है।

क्रोध से पैर पटकता हुआ रुद्रदेव बोला- चाहे यह भोजन सड़कर नष्ट हो जाये, किन्तु ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाले को यह कदापि नहीं मिलेगा।

यक्ष ने भी उच्च स्वर में कहा- मैं इन्द्रियों का गोपन करता हूँ और निर्दोष आहार ग्रहण करता हूँ। यदि मुझे आहार नहीं दोगे, तो तुम्हारा यज्ञ निष्फल जायेगा।

यज्ञ की निष्फलता की बात सुनते ही रुद्रदेव आगबबूला हो उठा और उसने युवा ब्राह्मणों को मुनि को मार-पीटकर यज्ञमंडप से बाहर निकाल देने का आदेश दे डाला।

राजकुमारी भद्रा भी वहाँ उपस्थित थी, वह बोल पड़ी- रुक जाओ, युवा ब्राह्मणों तुम नहीं जानते कि ये तपस्वी सन्त कितने प्रभावशाली और चमत्कारिक हैं। ये तो महान त्यागी हैं, इन्होंने तो मुझे भी स्वीकार नहीं की। इनकी अवहेलना मत करो। इनके दिव्य तेज से कहा नहीं जा सकता कि तुम्हारी क्या दशा बन जाये।

परन्तु युवा ब्राह्मण रुके नहीं, मुनि के साथ अभद्र व्यवहार करने के लिए आगे बढ़े। तब यक्ष ने अपनी माया रची। वे सभी युवक लहुलूहान होकर भूमि पर इस तरह गिरे, जैसे किसी से लड़कर और हारकर वे गिरे हों। सभी मृतवत् मूर्छित हो गये। यह स्थिति देख रुद्रदेव घबरा उठा। वह मुनि के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की बारम्बार क्षमायाचना करने लगा, बोला-मुनिवर हमने आपकी आत्म-शक्ति को पहिचाना नहीं और आपकी अवमानना की। उसके लिए हमें क्षमा कर दीजिए।

तब तक यक्ष मुनि के शरीर को छोड़ चुका था और मुनि ने सारे दृश्य को आश्चर्य के साथ देखा। वे बोले- मेरे मानस में आप में से किसी के भी लिए न पहले कोई द्वेष था और न अभी भी कोई द्वेष है। आगे भी कोई द्वेष नहीं रहेगा और यह सब चमत्कार भी मेरा नहीं है मेरे में भक्ति रखने वाले यक्ष ने किया लगता है। हम श्रमणों के पास क्षमा ही क्षमा होती है, आप निश्चिन्त रहें।

मुनि के ऐसा कहते ही सभी मूर्छित युवक सजग होकर खड़े हो गये। रुद्रदेव को मुनि को चरणों में गिरा हुआ देखकर वे भी मुनि हरिकेशबल के आगे नतमस्तक हो गये। तब मुनि ने सबको प्रतिबोध दिया- भ्रदजनों ! समिधा, अग्नि, घी आदि से किया जानेवाला यह यज्ञ जीवन के लिए फलदायी नहीं होता। करना ही है, तो आत्मयज्ञ करो- क्रोध, मान, माया, लोभ और काम की समिधा को संयम और तप की अग्नि में डालो एवं भावनाओं के घी से विषय-कषाय को जलाओ, फिर देखो कि आपकी आत्मा कितनी निर्मलता और कितने तेज से दमक उठती है। ये जाति, रूप, तन सभी उच्चता के प्रतीक नहीं होते। उच्चता उसे कहते हैं, जब मन उजला हो और आत्मा सदा जागृत। तब वह जीवन तप और संयम की ज्योति से प्रदीप्त बन जायेगा। मुनि हरिकेशबल के प्रतिबोध ने सबकी जीवन-दिशा ही बदल दी।

स्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र।

सार- मनुष्य को उसके रूप, जाति और तन से नहीं, मन और आत्मा से पहिचानिए। ❖ ❖ ❖

चरण-स्पर्श की चोट

वह 'चरण-स्पर्श' क्या था कि शैलक ऋषि की सुखामय निद्रा में भंग पड़ गया। वे उससे जाग गये। निद्राभंग ने उन्हें कुपित बना दिया। शरीर-सुख के आगे शिष्य का चरण-स्पर्श भी उन्हें अखर गया।

माता, भगवान नेमिनाथ सर्वज्ञ हैं और उनके धर्मोपदेश ने मेरी आँखें खोल दी हैं। मैंने संसार की असारता समझ ली है, मैं अब संयम अवश्य ग्रहण करूँगा। आप कृपा करके मुझे इस हेतु अपनी आज्ञा प्रदान करें- थावच्चाकुमार ने अपनी माता थावच्चा से करबद्ध प्रार्थना की।

थावच्चा अमरापुरी से होड़ करनेवाली श्रीकृष्ण की नगरी की ऐसी सेठानी थी, जिसके पास अखूट सम्पत्ति थी और थावच्चाकुमार उसका एकमात्र पुत्र और वही पुत्र संसार छोड़ने तथा दीक्षा लेने के लिए आतुर हो उठा था। माता पुत्र के इस संकल्प से अतीव दुःखानुभव कर रही थी। जब वह अपने पुत्र को समझा कर हार गयी, तो उसने द्वारकाधीश की सहायता ली।

कृष्ण ने कुमार को समझाते हुए कहा- कुमार तुमको ऐसा क्या कष्ट है जो तुम दीक्षित होने के लिए तत्पर हो उठे हो ? मुझे कहो, मैं तुम्हारा कोई भी कष्ट हो, निवारण कर दूँगा।

कुमार गंभीर चिन्तन का धनी बन चुका था, बोला- महाराज ! आप तो तीन खंड के अधिपति हैं, पूर्ण समर्थ हैं। आपकी बात भला, मैं कैसे टाल सकता हूँ ? यदि आप मेरे दो कष्ट मिटा दें, तो मैं दीक्षा नहीं लूँगा।

अरे भाई ! दो क्या, अपने दो सौ कष्ट बता दो, मैं तुम्हें कष्टमुक्त कर दूँगा। हमारे नगर की सेठानी थावच्चा की अभिलाषा भी तो पूरी करनी है।

तीन लोक के स्वामी ! मुझे केवल दो ही कष्ट हैं, एक जरा (बुढ़ापा) का और दूसरा मृत्यु का। इन्हें आप मिटा दीजिए- फिर मैं साधु नहीं बनूँगा।

कृष्ण यह सुनकर स्तब्ध रह गये- उन्हें एक झटका-सा लगा कि इतने समर्थ माने जाने पर भी वे कितने असमर्थ थे। मुख पर हंसी बिखेरते हुए वे बोले- थावच्चा कुमार ! तुम अपने निश्चय पर अडिग तो हो ही, किन्तु चमत्कारिक रूप से चतुर भी हो कि तुमने मुझे निरुत्तर कर दिया। वस्तुतः मैं तुम्हारे ये दो कष्ट मिटाने में समर्थ नहीं हूँ।

थावच्चाकुमार ने दीक्षा ली एवं अपने तन्मय अध्ययन से चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। अपने अपूर्व प्रभाव के साथ वे धर्म-प्रभावना करने लगे। सेलगपुर के राजा ने उनसे श्रावक धर्म ग्रहण किया, तो सौगन्धिक नगर के सेठ सुदर्शन ने सांख्य मत त्याग कर जैनधर्म स्वीकार किया। सेठ सुदर्शन बुद्धिशाली था और उसने मुनि थावच्चा कुमार से शुचि धर्म से सम्बन्धित अपनी धारणाओं की अवास्तविकता जानी एवं विनय धर्म मान्य किया।

यह जानकर कि सेठ सुदर्शन ने शुचि धर्म छोड़कर विनय धर्म स्वीकार कर लिया है, उसके संन्यासी गुरु उसके पास पहुँचे और कहने लगे- सुदर्शन ! तुमने ऐसी भयंकर भूल कैसे कर ली ? शुचि धर्म ही जीवन का मूल धर्म है।

नहीं, मैंने भूल नहीं की, भूल सुधार ली है। शुचि धर्म के

अनुसार जलाभिषेक आदि से शरीर-शुद्धि भले कर लें, पर उससे आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। क्रोध, काम, लोभ, मोह आदि का मैल तो विनयधर्म से ही दूर किया जा सकता है। आप भी इस धर्म की गहराई को समझिए-सेठ सुदर्शन ने विनयधर्म की महिमा पर विस्तार से प्रकाश डाला।

और उस प्रकाश में उन संन्यासी व उनके शिष्यों ने भी प्रवेश कर लिया तथा वे विनय-धर्मानुयायी बन गये। ये ही जैन मुनि शुक मुनि कहलाये। ये मुनि थावच्चाकुमार के शिष्य बने। इन्हीं शुक मुनि के धर्मोपदेश से सेलगपुर के राजा शैलक विरागी बने और अपने पुत्र मंडूक को राज्य-भार सम्हला कर दीक्षित हो गये।

मुनि शैलक ज्ञानार्जन और तपश्चरण की कठोर साधना में निमग्न हो गये। इतने एकरस कि शरीर को कहीं भी सुख देने का ख्याल तक न रहा। खाना, पीना, सोना, बैठना सब कुछ भूल गये। शरीर का अस्तित्व अवश्य था, परन्तु उसके लिए भी कुछ कर देना है, ऐसा कोई ध्यान उनके मन में नहीं रहा। संयमाचरण ही उनके जीवन का केन्द्र-बिन्दु बन गया। संयम की सम्यक् अनुपालना में शरीर का उपयोग है। इतना मात्र शरीर के प्रति उनका लक्ष्य अवशेष रहा। वे प्रतिपल ज्ञान-ध्यान में ही डूबते रहते और आत्मशुद्धि में प्रयासरत।

किन्तु.....उनकी संयम-साधना में एक 'किन्तु' आ गया। राजसुख में पला हुआ उनका शरीर उस कष्टपूर्ण साधना को सह न सका। कठोर तपस्या का असर पड़ा या पूर्वार्जित अशुभ कर्मों का उदय कि वह शरीर पित्त ज्वर एवं खाज रोग से ग्रस्त हो गया। रोग हुआ, रोग की असह्य पीड़ा उपजी, फिर भी शैलक ऋषि ने उसकी चिन्ता नहीं की। उन्होंने शरीर के प्रति अपने उपेक्षा भाव को नहीं तोड़ा। रोग बढ़ता रहा। शरीर गलता रहा और वे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे।

एक बार शैलक ऋषि सेलग नगरी में पधारे। राजपरिवार और जनता को अपार हर्ष हुआ कि उनके कल के प्रजापालक राजा और

आज के आत्मसाधक ऋषि का आगमन हुआ है। जन-समुदाय उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। राजा मुंडूर सदलबल वहाँ पहुँचा। शैलक ऋषि ने सबको आत्म कल्याण का धर्मोपदेश दिया।

धर्मसभा के विसर्जित हो जाने पर राजा मंडूर वहीं रुका और मुनि के रोगग्रस्त शरीर को देखकर आग्रहपूर्वक विनति करने लगा- मुनिवर, आपके रोगग्रस्त शरीर को देखकर मुझे अतीव खेद हो रहा है। शरीर भी आखिर धर्म-पालन का एक साधन है और उसका सबल बना रहना आवश्यक है। हम पर आप कृपा कीजिए, नगर में पधारिए तथा मेरी यानशाला में विराजिए, ताकि आपके शरीर का समुचित उपचार कराया जा सके। स्वस्थ हो जाने पर आप पुनः विहार कर लीजिएगा।

शैलक ऋषि ने अपने पुत्र राजा मंडूर की विनती को उचित जानकर स्वीकार कर ली। उपचार शुरू हुआ और वे पुनः स्वस्थ भी हो गये। किन्तु उनके साथ 'किन्तु' जो जुड़ गया था, वह तब तक भी छूटा नहीं, क्योंकि निरोग हो जाने पर भी विहार कर लेने की उनकी इच्छा नहीं बनी।

जिस आत्मा ने शरीर-सुख की सम्पूर्ण उपेक्षा कर ली थी, वही तब शरीर-सुख में डूबने लगी और उसकी ही अपेक्षा रखने लगी। उनकी आत्म साधना में असावधानी फैलनी आरंभ हुई तथा मनोज्ञ अशन, पान, खादिम, स्वादिम में उनकी मूर्छा बढ़ने लगी। मूर्छा बढ़ी, तृष्णा बढ़ी और तृष्णा बढ़ी, तो आत्मा के प्रति उनका लक्ष्य शिथिल होकर शरीर-सुख के प्रति उनकी ममता अनियंत्रित बन गयी। वे रात-दिन मनोज्ञ पदार्थों के सेवन का विचार करते, इन्द्रिय-सुख में मग्न रहते और उस नगरी को कभी न छोड़ने की धारणा बनाकर शरीर के ही सुख में डूबे रहते। अशुभ कर्मों का उदय हुआ, किन्तु वे उनकी अशुभता को मिटाने की बजाय उनसे उपजती अधिकाधिक अशुभता में डुबकियाँ लगाने लगे।

संयमाचरण में उनके इस प्रकार के पतन से दुखी होकर उनके

शिष्यों ने विचार किया। पंथक मुनि को शैलक की वैय्यावृत्य में नियुक्त कर गुरु आज्ञा से अन्यत्र विहार कर गये।

पंथक मुनि अपने गुरु शैलक ऋषि के समीप रहता हुआ भी यथारीति संयम-पालन की चेष्टा करता तथा शुद्ध भाव से गुरु की सेवा में भी लगा रहता। यदा-कदा वह अपने गुरु से निवेदन भी करता रहता- हे गुरुदेव ! याद कीजिए, आपने संयम की कितनी कठोर साधना की थी और शरीर की कितनी निर्मम उपेक्षा की थी, वही आप आज उस साधना का सर्वथा विस्मरण करके मात्र शरीर-सुख में ही क्यों डूब गये हैं? अब भी इस मूर्छा को दूर कर लीजिए और संयम-पथ पर अपने चरण आगे बढ़ा लीजिए। किन्तु हर बार उसे गुरु की फटकार ही मिलती। वह उसे सहर्ष सह लेता और उस घड़ी की प्रतीक्षा में जुट जाता, जब उसके गुरु का पुनर्जागरण होगा। वह इसी आशा में तो गुरु के साथ जुड़ा हुआ था।

इसी बीच कार्तिक मास की पूर्णिमा का दिन आया- चातुर्मास समाप्ति का दिन। इस दिन चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है। चार माह के अपने पाप-कर्मों की प्रत्यालोचना के लिए, किन्तु शैलक ऋषि को प्रत्यालोचना का भान कहाँ था ? स्वयं अपने संयम से पतन का ही भान नहीं था, तो आलोचना-प्रत्यालोचना का ध्यान आता ही कहाँ से ? इस दिन भी वे प्रतिक्रमण करने की बजाय भांति-भांति के सुस्वादु भोजन का आनन्द लेकर तब निद्रा का आनन्द ले रहे थे। कहाँ केवल आत्मा के ही ध्यान में मग्न रहा कहते थे वे और कहाँ वे मात्र शरीर के ही ध्यान में डूबे रहने लगे ?

परन्तु पंथक ने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया और 'खमासणो' द्वारा गुरु से क्षमायाचना करने के लिए शैलक ऋषि के पास पहुँचा। गुरु को सोया देखकर पंथक मुनि ने क्षमायाचना के प्रतीक स्वरूप धीरे से गुरु का चरण-स्पर्श किया।

वह 'चरण-स्पर्श' क्या था कि शैलक ऋषि की सुखमय निद्रा में भंग पड़ गया। वे उससे जाग गये। निद्राभंग ने उन्हें कुपित बना

दिया। शरीर-सुख के आगे शिष्य का चरण-स्पर्श भी उन्हें अखर गया। वे रोष-भरे स्वर में बोल पड़े- देखता नहीं पंथक ! तूने निष्कारण मेरी निद्रा-भंग कर दी। कुछ तो विचार रखना चाहिए तुझे ?

गुरुदेव ! मैं तो आपका शिष्य हूँ। मैं तो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके आपसे क्षमायाचना कर रहा था। उसी उद्देश्य से मैंने धीरे से आपका चरणस्पर्श किया, उसकी आप को चोट लग गयी ? आप मुझे क्षमा कीजिए- मेरा आपकी निद्रा-भंग करने का कोई विचार नहीं था।

चरण-स्पर्श की चोट.....गुरुदेव सचमुच चोट खा गये- भावनाओं और विचारों का तूफान उठने लगा। वे उस तूफान में खो गये- मैं तो संयम से एक रूप में पतित ही हो गया- कर्त्तव्य-च्युत बन गया, किन्तु मेरे अपने शिष्य के कर्त्तव्य-पालन पर भी मैं क्रुद्ध हो उठा। क्यों ? केवल शरीर के सुख के ख्याल से। आत्मा को अकर्त्तव्य-अकरणीय में डुबो दि और शरीर का ही दास हो गया मैं ! क्या था मैं और क्या हो गया मैं ? शरीर की रोगग्रस्तता से भी व्यथित नहीं हुआ मैं और स्वस्थ होकर इसी की मोहग्रस्तता में मैं फँस गया, कितना आत्म-विरोधी परिवर्तन हो गया मेरे जीवन में ? केवल संयम का बाना रह गया है और संयमहीन हो गया हूँ मैं। चरण-स्पर्श की इस चोट ने मेरे जागरण के पंख खोल दिये हैं। क्यों न मैं वितृष्णा के दलदल से बाहर निकल जाऊँ ?

और शैलक ऋषि यथार्थ में पुनः जागृत हो गये- भावनाओं के जगत में पुनः ऋषि बन गये। मोह निद्रा समाप्त हुई, संयममय ज्ञान के आलोक से उनके अन्तःकरण का कोना-कोना फिर से प्रकाशित हो उठा। पश्चात्ताप की अग्नि से उन्होंने अपनी सारी दुर्बलता जला दी और भोर होने के बाद अपने शिष्य पंथक मुनि को लेकर शैलक ऋषि ने सेलगनगरी से विहार कर दिया। मूर्छा के एक युग को समाप्त कर लिया। वे संयम-मार्ग पर स्थिर बन गये।

पश्चात्ताप से प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्त से कठोरतम तपश्चरण

की ओर उनके चरण बढ़ते ही रहे। वे यह समझ चुके थे कि संयम का महान शत्रु प्रमाद होता है। प्रमाद घर करता है, तो शरीर-सुख का ध्यान समा जाता है और प्रमाद जितना बढ़ता है, संयम से पतन उतना ही अधिक घातक होता है। उन्होंने निश्चय कर लिया था, पतन के कटु अनुभव के पश्चात् कि वे अब प्रमाद का स्पर्श तक नहीं होने देंगे। वह कैसा प्रमाद ? जो चरण-स्पर्श तक को चोट मनवा दे ?

स्रोत- ज्ञात धर्म कथा सूत्र।

सार- समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद से सावधान मनुष्य की दृष्टि ही कल्याण मार्ग पर स्थिर बन सकती है।

❖ ❖ ❖

फिर से गिरे भाड़ में

शूरवीर कर्म में शूर होते हैं, तो धर्म में भी शूर होते हैं। राजा पुंडरीक ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वे संसार-त्याग कर दीक्षित हो जायेंगे। किन्तु भाई की संयम-भ्रष्टता को सहन नहीं करेंगे।

पूर्व महाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुंडरीकिणी नामकी नगरी थी। उसमें महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे- पुंडरीक और कंडरीक। एक बार उस नगरी में स्थविर भगवन्त का आगमन हुआ। धर्मोपदेश सुनकर राजा को वैराग्य हो आया और उसने अपने पुत्र पुंडरीक को राजा के पद पर तथा कंडरीक को युवराज के पद पर स्थापित कर भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। दीर्घकाल तक उसने संयम का श्रेष्ठ रीति से पालन किया और वह सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गया।

वे ही स्थविर भगवन्त पुनः उस नगरी में आये। उनका धर्मोपदेश सुनकर राजा पुंडरीक ने श्रावक धर्म अंगीकार किया, किन्तु युवराज कंडरीक ने भावाभिभूत होकर श्रमण धर्म स्वीकार किया तथा स्थविर मुनियों के साथ विहार करते हुए तप की आराधना करने लगा।

जनपद में विहार करते हुए अन्त-प्रान्त आहार करने के कारण मुनि कंडरीक को दाहज्वर का रोग उत्पन्न हो गया। उससे उन्हें भयंकर वेदना होने लगी और यह आवश्यक हो गया कि उनका तुरन्त समुचित उपचार हो। परन्तु अन्यत्र कहीं उनके उपचार की सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं हो सकी, अतः स्थविर मुनियों के साथ विचरण करते हुए वे अपने भाई राजा पुंडरीक की पुंडरीकिणी नगरी में पहुँचे । राजा ने मुनियों को अपनी यानशाला में ठहराया तथा मुनि कंडरीक का योग्य उपचार कराया।

मुनि कंडरीक के तन का रोग तो धीरे-धीरे शान्त हो गया, किन्तु उनके मन को रोग लग गया। चिकित्सा काल में जिस प्रकार के मनोज्ञ पदार्थों का संयोग उनकी इन्द्रियों के साथ हुआ, उससे उनकी वासनाएँ एवं इच्छाएँ भड़क गयीं। उन्हें तब योग्य वस्तुओं की कामना रहने लगी और संयम साधना में शिथिलता व्याप्त होने लगी। उनका मन तब संयम के प्रति विद्रोही हो उठा। राज्य-सुखों के सामने उन्होंने श्रमण धर्म को क्यों चुना ? वे संसार रूपी जिस भाड़ में से निकले थे, फिर से उसी भाड़ में गिर जाने के लिए उनका अनियंत्रित मन अधीर हो उठा।

उनके ऐसे संयम-स्खलन को महसूस कर उनके साथवाले सभी मुनि वहाँ से विहार कर गये, किन्तु वे वहीं रुके रहे। राजा पुंडरीक यह जान नहीं पाये कि उनके भाई मुनि के मन में काम-भोगों का कैसा अंधड़ चल रहा है। अपने दीक्षा-जीवन को वे निरर्थक न बनावें इस लक्ष्य से राजा पुंडरीक ने मुनि कंडरीक को समझाया- मुनिवर ! आप धन्य हैं, जो युवराज पद एवं राजसुख का मोह त्यागकर विरागी और त्यागी बने तथा साधना मार्ग पर अग्रसर हुए। आपने कठोर परीषह सहे, जिन्हे संसार के विषय-भोगों में आसक्त बने प्राणी कदापि सह नहीं सकते। आपकी भावना और साधना महान है।

मुनि कंडरीक समझ गये कि उनकी ऐसी प्रशंसा का अन्तर्रहस्य क्या है ? यों वे भीतर ही भीतर कट कर रह गये। ज्येष्ठ भ्राता के समक्ष यकायक वे कुछ बोल नहीं पाये, अतः चुप रहकर इधर-उधर देखते रहे। राजा पुंडरीक का मन सशंकित हो उठा कि मुनि का शिथिलाचार संभवतः सीमा को लांघ गया है। उन्हें लगा कि मुनि का अपने साधुधर्म पर स्थिर बने रहना न केवल स्वयं मुनि के जीवन-विकास के लिए अनिवार्य है, अपितु उनके राजपरिवार के लिये भी प्रतिष्ठा का प्रश्न है- राजा महापद्म का सुपुत्र संयम से भ्रमित और भ्रष्ट हो जाये- यह लांछना का ही विषय हो सकता है।

कंडरीकमुनि ने अवशता का अनुभव करते हुए लज्जावश वहाँ से विहार कर दिया।

कंडरीक मुनि ने जहाँ स्थविर थे, उनके साथ कुछ समय तक विचरण किया, पर मन संयम में लगा नहीं। वह तो पाँच इन्द्रियों के विषय का लुब्धाक बना हुआ था। कालान्तर में वे मुनि पुनः पुण्डरीकिणी नगर के बाहर आकर अशोक वृक्ष के नीचे आर्तध्यान करते हुए मुर्झाये मन से बैठ गये। कुछ तय नहीं कर पा रहे थे कि क्या करें। पुंडरीक को कुछ कह नहीं पा रहे थे, संयम में भी मन लग नहीं पा रहा था।

संयोग से पुंडरीक की धायमाता उधर गयी उसने मुनि की हालत देखी। उसने तत्काल यह सूचना पुंडरीक राजा को दी। वे पूरे परिवार सहित दर्शनार्थ उपस्थित हुए। वंदना-नमस्कार कर कंडरीक की प्रंशंसा करने लगे कि आप धन्य हैं। आपने साधु-जीवन स्वीकार किया। मैं तो अधन्य हूँ, जो काम-भोगों में पड़ा हुआ हूँ। इस पर कंडरीक मुनि कुछ नहीं कहते चुपचाप बैठे रहे। अंत में पुण्डरीक ने कहा- क्या आप भोग माँगना चाहते हैं ?

उसने कहा- हाँ ! राजा पुंडरीक को समझ में आ गया कि

मुनि कंडरीक अब अपने धर्म पर कदापि स्थिर रहने की मनः स्थिति में नहीं हैं। वे सांसारिक भोगों में बुरी तरह से आसक्त बने हुए हैं और संयम-पालन में आन्तरिक दृष्टि से पूर्णतया पतित हो चुके हैं।

शूरवीर कर्म में शूर होते हैं, तो धर्म में भी शूर होते हैं। राजा पुंडरीक ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वे संसार-त्याग कर दीक्षित हो जायेंगे। किन्तु भाई की संयम-भ्रष्टता को सहन नहीं करेंगे। उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा- अच्छा ! यदि मुनिधर्म के त्याग और संसार में पुनः प्रवेश का ही निर्णय ले लिया है, तो मैं साधु धर्म ग्रहण करूँगा और तुम इस राज्य का भार सम्हालो तथा जिस रीति से जीवन बिताना चाहो, व्यतीत करो।

कंडरीक यही तो चाहता था, अंधे को आँख मिली। वह तुरन्त तैयार हो गया। पुंडरीक ने उसे राजसिंहासन पर बिठाया और स्वयमेव पंचमुष्टि लोच करके प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। स्थविर भगवान को वन्दना करने के पश्चात् ही मुझे आहार करना योग्य है- ऐसा अभिग्रहण करके मुनि पुंडरीक ने पुंडरीकिणी नगरी से विहार कर दिया। वे स्थविर मुनियों की सेवा में पहुँचे, उनने चातुर्मास धर्म को स्वीकार किया तथा स्वाध्याय, ध्यान में रत हो गये। छट्ठयाखमण के पारणार्थ स्थविर भगवन्तों की अनुज्ञा प्राप्तकर भिक्षा के लिए गये। भिक्षा में प्राप्त रूक्ष अन्न से पारणा किया। इससे उनके शरीर में भयंकर वेदना का प्रार्दुभाव हुआ। परन्तु वे उस परीषह को धैर्यपूर्वक सहते रहे- उनका मन अतीव शान्त था, अन्तिम समय में आत्मा-लोचना करके वे समाधिमरण को प्राप्त हुए एवं स्वार्थसिद्ध विमान में उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने।

एक भाई अनायास ही भोग से योग की ओर मुड़ा तथा अपनी विशुद्ध भावना के साथ अल्पकाल में ही सद्गति को प्राप्त हो गया। वहीं दूसरा भाई योग से पुनः भोग की ओर मुड़ा। फिर से भाड़

में गिरा। यह उसका भ्रष्टाचरण था, किन्तु एक बार जो भ्रष्टाचरण से निकलकर पुनः उसमें प्रवेश करता है, उसका विवेक भी शून्य हो जाता है। कंडरीक भी राजा बना, किन्तु उसे राजा के कर्त्तव्यों से क्या लेना-देना था ? वह तो काम-भोगों में ही तृप्ति तलाशता हुआ उनके अधिकाधिक सेवन में ही आसक्त बना रहा। वितृष्णा की वैतरणी नदी को क्या कोई कभी पार कर सका है ? फिर कंडरीक की ही क्या बिसात थी ? जो विषयासक्त प्राणियों की दुर्दशा होती है, वही कंडरीक की भी हुई।

पौष्टिक खान-पान आर भोग-विलास के अतिरेक में कंडरीक के शरीर में पित्तज्वर से भयंकर दाह उत्पन्न हो गया। अन्ततोगत्वा उस भयंकर वेदना से हाय-हाय करते हुए उसने अपने प्राण त्यागे। फिर से संसार की भाड़ में वह क्या गिरा कि गति की भाड़ में भी दीर्घतम काल के लिए गिर पड़ा। सातवीं नरक में उसको स्थान मिला।

स्रोत : ज्ञाताधर्म कथा सूत्र।

सार : संयम लेकर पड़वाई हो जाना, पुनः काम-भोगों में डूब जाना भयंकर दुर्गति का कारण होता है। जबकि अनासक्त भाव के साथ स्वल्प काल का संयम भी कल्याणकारक बन जाता है।

❖ ❖ ❖

धन की बेड़ियाँ तोड़ें तो....

जिस अपार सम्पत्ति का मोह त्यागकर उसके स्वामी और उत्तराधिकारी जहाँ संयम के उच्च स्तर पर आरूढ़ हो रहे थे, वहीं राजा इषुकार उस सम्पत्ति के मोह से अपने आपको पाशबद्ध कर रहे थे- क्या इसे भी उचित कृत्य कहा जा सकेगा ?

पधारिए मुनिवर !

भृगु पुरोहित और उसकी पत्नी यशा ने घर आये दो मुनियों की अभ्यर्थना की।

भृगु पुरोहित इषुकारनगर का प्रतिभासम्पन्न राजपुरोहित था, जहाँ के राजा इषुकार थे। रानी का नाम कमलावती था। इस राजपुरोहित की पत्नी यशा वशिष्ठ कुल में जन्मी थी, जिस कारण वह वाशिष्ठी भी कही जाती थी।

यह राजपुरोहित परिवार सन्तानहीन होने से बहुत दुःखी रहा करता था और सन्तान-प्राप्ति का कोई न कोई उपाय करता रहता था। स्वर्ग के दो देवों ने अपने ज्ञान में देखा कि उनका जन्म पुत्र रूप में इसी राजपुरोहित परिवार में होने वाला है, तो वे अपनी माया से मुनिवेष धारणकर भृगु पुरोहित के घर पहुँचे। उन्हीं की अभ्यर्थना इस राजपुरोहित परिवार ने की।

दोनों मुनियों को यथेष्ट भिक्षा देकर भृगु पुरोहित ने अपने

दुःख के विषय में पूछ ही लिया- हम सन्तानहीन हैं। क्या हमारे कभी कोई पुत्र होगा भी या नहीं ?

पुरोहित जी ! आप अब सन्तानहीन नहीं रहेंगे। आपके यहाँ एक नहीं, बल्कि दो पुत्रों का जन्म होगा और पुत्र भी तेजस्वी एवं विचक्षण होंगे।

धन्य हो मुनिवर, हमें पूर्ण विश्वास है कि आपकी यह भविष्यवाणी अवश्यमेव सत्य सिद्ध होगी।

किन्तु एक बात और है, वह भी हम तुम्हें बता दें।

भृगु यकायक घबरसा गया, पूछने लगा- ऐसी क्या बात है मुनि ? क्या कोई क्लेशकारी बात तो नहीं ?

नहीं, नहीं, तुम्हारे होनेवाले पुत्रों के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही शुभ बात है।

अवश्य कहिए, वह क्या है ?

वह यह कि वे दोनों बालक अल्पवय में ही श्रमण बनकर धर्म की सराहनीय प्रभावना करेंगे।

मुनि तो यह कहकर वहाँ से प्रस्थान कर गये, किन्तु भृगु और यशा बहुत देर तक अपने आप में ही डूबकर बहुत कुछ सोचते रहे। आखिर ये मौन भृगु ने ही तोड़ा, कहने लगा- हे देवानुप्रिये ! हमारे पास अपार सम्पत्ति है और यदि हमारे पुत्र ही अल्पवय में संसार का त्याग कर देंगे, तो इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा, कौन उसका भोग करेगा ? यह तो हमारे लिए पुत्रों का होना न होना बराबर हो जायगा। इसके लिए कुछ उपाय तो सोचा ही जाना चाहिए।

आर्य ! होनहार को कौन टाल सकता है ? भवितव्य तो होकर ही रहेगा। हमारे लिए तो क्या यही कम हर्षदायक विषय है कि मेरी कोख से एक नहीं, दो पुत्र जन्म लेंगे और वे दोनों अपनी बाल-क्रीड़ाओं से हमारे चित्त को प्रसन्नता से भर देंगे ? सन्तानहीनता का दुःख तो मिटेगा ही।

यह ठीक है, लेकिन वे जीवनभर हमारे सथ हमारी गृहस्थी को चलायें तो कितना आनन्ददायक रहे मुनियों ने कहा है कि अल्पवय में ही वे मुनि बनेंगे, किन्तु मुनि तभी तो बन पायेंगे, जब वे किसी मुनि को देखेंगे या उनकी संगति करेंगे। हम ऐसा होने ही नहीं देंगे- उन्हें किसी मुनि के सम्पर्क में आने ही नहीं देंगे, बल्कि उन्हें प्रारंभ से ही मुनि की वेश भूषा आदि समझाकर उनसे इतना भयभीत रखेंगे कि कहीं कभी एकान्त में उन्हें कोई मुनि दिखायी भी दे, तो वह दूर से ही उनसे डर कर भाग जाये।

उन्हें ऐसे भयभीत बनाना क्या उचित रहेगा, आर्य ?

यह उचित-अनुचित का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है, उन्हें किसी भी विधि से संसार में रोके रखने का, मुनि नहीं बनने देने का। अतः मेरे साथ तुम्हें भी उनके लिए ऐसा ही वातावरण बनाना होगा।

ऐसा निश्चय कर दोनों पति पत्नी अपने कार्यों में व्यस्त हो गये। यथासमय यशा ने गर्भ धारण किया और अवधि पूरी होने पर दो पुत्रों को जन्म दिया।

दोनों पुत्र बहुत ही सुन्दर और आकर्षक आकृतिवाले थे। माता-पिता उन्हें निहारकर, उन्हें क्रीड़ाएँ कराकर तथा उनकी बाल सुलभ लीलाओं को देखकर आनन्द-विभोर होते रहते थे। माँ की ममता अपार होती है, वह तो जैसे उनपर निछावर थी। अब तो वही अधिकांश कामना करती रहती थी कि उसके पुत्र कहीं दीक्षा लेकर उससे विलग न हो जाये, अतः साधुओं से उन्हें अधिक ही भयभीत किया करती थी। दोनों बालकों के मन में इससे पक्की धारणा बन गयी कि ऐसे-ऐसे वेषवाले साधु अपने पात्रों में छुरी आदि तीखे हथियार रखते हैं और अवसर पाते ही छोटे बालकों को मार डालते हैं। वे इस प्रकार साधुओं के नाम से ही कांपने लगे। वे दूर से ही अकस्मात् किसी साधु को देख लेते, तो वहाँ से भाग जाते और घर में जाकर छिप जाते।

एक बार ऐसा घटित हुआ कि दोनों बालक खेलते-खेलते नगर से कुछ दूर वन-प्रान्तर में निकल गये। उन्होंने दूर से देखा कि जैसा माता-पिता ने बता रखा था, वैसे कई साधु उसी मार्ग से आ रहे हैं। उन्हें देखकर वे घबरा गये और बचाव के उपाय में एक घने वृक्ष पर चढ़कर उसकी शाखाओं के बीच में इस तरह छिप गये कि मार्ग पर चलते हुए साधुओं की दृष्टि उन पर न पड़ सके। इस आ रही आपत्ति से पार पाने का कोई अन्य उपाय उन्हें नहीं सूझा।

संयोग ऐसा बना कि वे साधु उसी वृक्ष के नीचे आकर ठहर गये। वे काफी दूर से आ रहे थे। अतः विश्राम के लिए उस सघन वृक्ष की छाया उन्हें उपयुक्त लगी। उन्हें तो वृक्ष के ऊपर देखने की कोई आवश्यकता थी नहीं, किन्तु वे बालक उन्हें एकटक देख रहे थे। वे सोच रहे थे कि अब उनकी मृत्यु आ गयी। ये साधु अब अपने पात्र खोलेंगे, उनमें से छुरी आदि शस्त्र निकालेंगे और उन दोनों की हत्या कर देंगे। अब वे मृत्यु से बचकर निकल नहीं सकते। अपने माता-पिता को भी रक्षा के लिए चीखकर बुला नहीं सकते। कारण, अभी तो रक्षा की एक क्षीण आशा है कि वे दोनों ही कहीं इन्हें दिखायी ही न दें। यह सोच बिना हिलेडुले या कोई आवाज किये वे चुपचाप अपनी जगह पर बैठे रहे।

और साधुओं ने अपने पात्र खोलने शुरू किये। दोनों बालक सशंकित होकर धड़कते दिलों से पात्रों को खोलना देखने लगे, लेकिन यह क्या ? किसी भी पात्र में कोई शस्त्र नहीं दिखायी दिया छोटा-सा भी, बल्कि उनमें तो मात्र पानी या भोजन ही था।

बालकों का भय दूर होने लगा। फिर उन्होंने देखा कि वे छोटे से छोटे प्राणी कीड़े-मकौड़े तक के प्रति पूर्ण दयामय व्यवहार कर रहे थे। उन्होंने बड़ी सावधानी से अपने रजोहरणों द्वारा उस स्थान को साफ किया और यतनापूर्वक बैठना शुरू किया। वे साफ देख सकते थे कि सभी साधुओं के मुख पर प्रेम और करुणा के कोमल भाव थे। किसी को भी क्रूरता तो कहीं छू तक नहीं गयी थी। साधुओं के प्रति

उनका भय एकदम मिट गया। उन्हें लगा कि माता-पिता ने उन्हें न जाने क्यों, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों से भयभीत होकर आतंकित बनाये रखा ? वे आश्वस्त होकर वृक्ष से नीचे उतर गये।

फिर भी वे साधुओं की आँखों से ओझल दूर ही खड़े रहे, ताकि कहीं कोई शंका की वस्तुस्थिति हो, तो उसकी भी जाँच कर लें। वे एकटक उन साधुओं की शुभभावों से भरी मुखमुद्राएँ निरखते रहे और उनके क्रिया-कलापों को परखते रहे। उनके भीतर अनुभूति जागी कि यह साधुवेष और साधु धर्म उन का अपरिचित तो नहीं है- वे इसे जानते हैं। स्मृतियों की गहराई में प्रवेश करने पर उन्हें पूर्वभव का ज्ञान हो गया और तब तो सारी वस्तुस्थिति दर्पणवत् सुस्पष्ट हो गयी। वे पूरी तरह निर्भीक होकर साधुओं के पास चले आये और वन्दन करके उनकी सेवा में बैठ गये। उन का अन्तर्मन अपूर्व आनन्द से झूम रहा था। साधुओं ने उन बालकों को प्रतिबोध दिया और उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

दोनों बालक वहाँ से अपने घर पहुँचे और माता-पिता से निवेदन करने लगे-पूज्यवर ! आपने हमें साधुओं से व्यर्थ ही में भयभीत बना रखा था, वे तो दया की मूर्तियाँ हैं और सबके लिए परम उपकारी हैं। उनके हमें आज दर्शन हुए और उनकी अमृतवाणी सुनकर हम दोनों ने साधु बन जाने का दृढ़ संकल्प कर लिया है, अतः आप हमें इस की अनुमति प्रदान करें।

भृगु और यशा को ऐसा लगा जैसे सारा भूमंडल उनके सामने घूमने लगा हो और अपने-आपको थामे रखना कठिन हो गया हो। तो क्या मुनियों की भविष्यवाणी उनके सारे प्रयासों के बावजूद भी सत्य होकर ही रहेगी और उनके पुत्र उनकी अपार सम्पत्ति को ठोकर मारकर साधु बन ही जायेंगे ? भृगु ने अनेक तर्क-वितर्कों से अपने पुत्रों को बहुत समझाया कि वे साधु न बनें, पर उन्होंने एक न मानी।

राजपुरोहित दम्पत्ति एक बार तो घोर निराशा में डूब गया, किन्तु दूसरे ही क्षण उन के सामने आशा की स्वर्णिम रेखाएँ खिंच गयी

धन की बेड़ियाँ ही तो उन्हें बांधे हुए थी और इसी कारण उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को साधुओं से भयभीत बना रखा था, ताकि वे ही धन की बेड़ियाँ उनके दोनों पुत्र भी खुशी खुशी पहन ले और धन के बन्दियों की तरह अपना जीवन व्यतीत कर दें। किन्तु उन की कोशिशें बेकार गयी और आज उनके पुत्रों ने वे बेड़ियाँ पहनने के पहले ही उन बेड़ियों से सदा के लिए अपना नाता तोड़ देने का संकल्प प्रकट कर दिया है। तो अब इस धन पर भी मोह क्यों रखा जाये ? पुत्र आदि वे बेड़ियाँ पहनने से ही इन्कार कर रहे हैं, तो उन्हें अब इन पहनी हुई बेड़ियों को उतार फेंकने में क्या आपत्ति होनी चाहिए ? बच्चे त्यागी हो रहे हैं, तो वृद्ध माँ-बाप होकर भी क्या भोगी बने रहेंगे ? पुत्रों से प्रेरणा पाकर भृगु और यशा ने भी साधुधर्म स्वीकार करने का अपना संकल्प बना लिया।

तब एक नया प्रश्न उठ खड़ा हुआ। भृगु दम्पत्ति दीक्षा ले रहा था और उनके दोनों उत्तराधिकारी तो दीक्षा के सूत्रधार थे ही। फिर भृगु-पुरोहित की अपार सम्पदा का स्वामी कौन बने ? सामान्य परम्परा के अनुसार लावारिस सम्पत्ति का अधिग्रहण राजा करता है अतः इषुकार राजा ने उस सम्पत्ति को अधिगृहीत करने के आदेश दे दिये। गाड़ों में भरकर वह सम्पत्ति राजपुरोहित के घर से लाकर राज्य के कोषागार में जमा की जाने लगी।

यह संवाद रानी कमलावती को मिला। राजपुरोहित को राजा द्वारा दान आदि में दी गयी सम्पत्ति को राजा द्वारा ही पुनः अधिग्रहण की बात उसे पसन्द नहीं आयी। ऐसा उसे वमन करके फिर उसे ही चाट लेने जैसा कृत्य लगा। दूसरे, जिस अपार सम्पत्ति का मोह त्यागकर उसके स्वामी और उत्तराधिकारी जहाँ संयम के उच्च स्तर पर आरूढ़ हो रहे थे, वहीं राजा इषुकार उस सम्पत्ति के मोह से अपने आपको पाशबद्ध कर रहे थे- क्या इसे भी उचित कृत्य कहा जा सकेगा ? रानी ने राजा से तुरन्त भेंट की और निवेदन किया महाराज ! आप एक ब्राह्मण द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हैं, क्या यह अति

अशोभनीय नहीं है ? उसने तो धन की बेड़ियाँ तोड़ डालीं और आप उन्हीं बेड़ियों को अपने पैरों में डाल रहे हैं, यह कैसा विवेक है ?

रानी का तर्क सुनकर राजा स्तब्ध रह गया, बोला- यह तो सामान्य राजकीय परम्परा है कि जिस धन का कोई स्वामी नहीं रहता, उसका स्वामी राजा हो जाता है। इसमें मैं नहीं समझ पाया कि क्या अशोभनीय है और मेरी क्या विवेकहीनता है ?

राजन ! आपने जो कुछ दान में दिया, वही धन तो राजपुरोहित के पास है और उसे ही आप पुनः ले रहे हैं, तो क्या यह वमन करके उसे ही फिर से चाटने जैसा नहीं है ?

राजा विचार में पड़ गया, कुछ बोला नहीं। रानी ने ही आगे कहा- महाराज ! जीवन के सम्यक् विकास के बीच में सर्वाधिक बाधाकारी यह धन ही होता है। धन पांवों की बेड़ी है, जो संयम-मार्ग पर चलने नहीं देता। एक अपने पाँवों की बेड़ी तोड़ रहा है और आप उसी बेड़ी को अपने पाँवों में डाल रहें है। क्या यह शोचनीय मनोदशा नहीं है ?

राजा इषुकार विचारों की गहराई में उतर रहा था और रानी का कथन उसके लिए जगानेवाली प्रेरणा का काम कर रहा था, उसने कहा- महारानी ! अब मैं सचमुच इस पर बहुत गंभीरता से विचार कर रहा हूँ।

महाराज, विचार ही न करते रहिए, कुछ शुभ निर्णय ले लीजिए। राजपुरोहित के धन को मैं मांस के टुकड़ों के समान समझती हूँ, जिस पर गिद्ध और चील-कौवे ही मंडराया करते हैं। इस धन को तो गरीबों में बंटवा दीजिए, परन्तु इससे भी आगे का निर्णय आप लीजिए। ये चार भव्य आत्माएँ धन की बेड़ियाँ तोड़कर संयममार्ग पर अग्रसर हो रही हैं, तो क्यों न हम भी अब इस अवस्था में धन की बेड़ियों को तोड़ दें और समूचे राज-पाट को त्यागकर सिद्धि की ओर अपने चरण बढ़ा दें ?

यह सब सुनकर इषुकार की भावना में यह नया परिवर्तन

प्रबलता पकड़ बैठा। उसे लगा- ये धन की बेड़ियाँ मनुष्य को मोह में बांधे रखती हैं और जब तक मोह बना रहता है, कल्याणमार्ग दिखायी नहीं देता। रानी स्वयं जब इन बेड़ियों के तोड़ देने के लिए उत्सुक बन गयी है, तो मैं ही पीछे क्यों रहूँ ? मैं ही अपने आपको बन्दी क्यों बनाये रखूं ? राजा ने रानी के समक्ष नतमस्तक होकर कहा- महारानी ! तुमने मुझे जो साधना मार्ग दिखाया है, मैं भी उसी पर चलूंगा। धन की बेड़ियाँ तोड़ें, तो सिद्धि का मार्ग मिलता है।

दो बालकों ने अपने माता-पिता को प्रेरित किया, तो उनसे अनुप्रेरित हुई रानी और उससे राजा। प्रेरणा की शृंखला भी कितनी बलवती होती है, जो अन्ततः सिद्धि से जुड़ जाती है।

स्रोत : उत्तराध्ययन सूत्र।

सार : धन को यदि पाँवों की बेड़ी मान लें, तो उससे मोह-मुक्ति ही सच्ची मुक्ति बन जायेगी।

❖ ❖ ❖

चूड़ियों की खनक भी नहीं

जहाँ अनेक हैं और शान्त व सुखी जीवन का विवेक नहीं, वहाँ निरन्तर संघर्षण है, दुःख है, पीड़ा है, क्लेश है और मन की गति-विगति है। जहाँ एक है, वहाँ घर्षण नहीं, तो अशान्ति नहीं, अशान्ति नहीं, तो सुख ही सुख है।

कोमलांगी की कलाइयों पर नर्तन करती हुई जिन चूड़ियों की मीठी खनक-कंकणों की मधुर ध्वनि को सुनने के लिए युवा मन अधीर रहता है और उसे सुनता हुआ मस्ती के साथ नाच उठता है, उसी खनक और ध्वनि को सुनकर नमि राजा चीखते हुए से बोले- बन्द कर दो इस कंकण ध्वनि को। वेदना से आकुल-व्याकुल नमि राजा चूड़ियों की उस आकर्षक खनक को सहन नहीं कर सके।

नमि मिथिला के राजा थे, राजा पद्मरथ ने उन्हें राजा बना दिया था। वे मदनरेखा की कुक्षि से उत्पन्न हुए थे, जो अतिशय रूपवती थी। मालव प्रान्त में सुदर्शनपुर का राज्य-संचालन करता था राजा मणिरथ एवं युगबाहु उसका कनिष्ठ भ्राता था। मदनरेखा युगबाहु की धर्मपत्नी थी। ज्येष्ठ भ्राता होते हुए भी मणिरथ मदनरेखा के अप्सरा तुल्य रूप पर मुग्ध हो गया था और उसी दुर्भावना से उस ने युगबाहु को कपट से मार दिया। आपद्ग्रस्त होकर मदनरेखा बीहड़ वन में भाग गयी ताकि उसके सतीत्व की रक्षा हो सके तथा उस परम प्रिय प्राणी की, जो उसके गर्भ में पल रहा था।

मदनरेखा के उसी नवजात शिशु को राजा पद्मरथ अपने राजमहल में ले आये थे। चूंकि वे स्वयं भावप्रवण एवं धर्मनिष्ठ थे, नवजात शिशु पर उनके ही शुभ संस्कार छाये हुए रहे। यही कारण था कि नमिकुमार भी आत्म-चिन्तक एवं प्रजावत्सल बना। पद्मरथ ने संयम स्वीकार करने के पूर्व नमि को ही राज्यभार सौंप उसे सिंहासनरूढ़ कर दिया था। नमि के शासन में प्रजा अत्यन्त सुखी और धर्माभिमुख बनी। प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले सुन्दर युवक नमि के साथ कई कोमलांगी सुन्दर रमणियों का विवाह हुआ और नमि राजा उनके साथ आनन्दपूर्वक रह रहा था।

किन्तु कर्मों की लीला भी अनोखी होती है, जो उस सत्यनिष्ठ एवं जनप्रिय राजा को भयंकर दाहज्वर ने घेर लिया। उसका सारे शरीर में ऐसी भीषण जलन रहती थी कि एक पल को भी उसे चैन नहीं मिलता था। छः माह तक ऐसी घोर वेदना होती रही। नाना प्रकार के निरन्तर उपचार कराये जाते रहे, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में एक अनुभवी वैद्य आया। उसने सारे शरीर पर बावने चन्दन का लेप लगाने के लिए कहा। सभी रानियाँ स्वयं अपने राजा के लिए चन्दन घिसने लगीं। सबके हाथ हिल रहे थे, तो हाथों में पहनी हुई चूड़ियाँ खनक रही थी। स्वर्ण-कंकणों के संघर्षण से मनोहारी ध्वनि फूट रही थी, किन्तु वही मनोहारी ध्वनि दाहज्वर से पीड़ित नमि राजा को सहन नहीं हुई और वे चिल्ला उठे-बन्द करो इस कंकण धविन को। कोई आवाज नहीं, चूड़ियों की खनक भी नहीं।

तुरन्त चन्दन घिसते हुए हाथ रुक गये। सभी रानियों ने अपने कंकण, अपनी चूड़ियाँ उतार दीं। केवल एक-एक चूडी अपने सुहाग के चिह्नस्वरूप रख ली। हाथ फिर चन्दन घिसने लगे, किन्तु ध्वनि बन्द हो गयी। राजा ने सोचा- शायद चन्दन घिसना बन्द कर दिया गया। वे मंत्री से बोले- चूड़ियों की आवाज नहीं आ रही है, सो क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया गया है ?

नहीं, महाराज ! चन्दन तो बराबर घिसा जा रहा है। आपको

चूड़ियों की खनक सहन नहीं हो रही थी, इसी कारण महारानियों ने केवल एक-एक चूड़ी रखकर अपने हाथों की सारी चूड़ियाँ उतार दी हैं। केवल एक-एक चूड़ी है, तो चूड़ियों का पारस्परिक संघर्षण नहीं है और संघर्षण नहीं है, तो ध्वनि का अभाव हो गया है। एक-एक चूड़ी ही हाथों में है, अतः यह शान्ति हो गयी है, राजन।

मंत्री ने राजा को तथ्यात्मक स्थिति समझायी, किन्तु राजा ने उसे भावात्मक रूप में ग्रहण की। उसे यह घटना, मात्र घटना नहीं लगी, परन्तु परिवर्तन की एक चमत्कारिक भावना। शरीर की घोर वेदना एक बार विस्मृत-सी हो गयी और नमि राजा अपनी आत्मा के अतल गहराइयों में खो गये। एक चूड़ी अनेक चूड़ियाँ। एक चूड़ी का घर्षण नहीं होता, तो उससे ध्वनि भी नहीं निकलती-अशान्ति नहीं होती। अनेक चूड़ियाँ एक हाथ पर एकत्रित होती हैं, तो उनमें परस्पर घर्षण होता है और हाथ का हिलना डुलना-जितना तेज होता है, उनके घर्षण की आवाज भी उतनी ही तेज होती है, जो शान्त वातावरण को अशान्त बना देती है। इस संसार में भी क्या हो रहा है? जहाँ अनेक हैं और शान्त व सुखी जीवन का विवेक नहीं, वहाँ निरन्तर संघर्षण है, दुःख है, पीड़ा है, क्लेश है और मन की गति-विगति है। जहाँ एक है, वहाँ घर्षण नहीं, तो अशान्ति नहीं, अशान्ति नहीं, तो सुख ही सुख है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, परिवार, धन-सम्पदा आदि ये सब अनेक हैं और इन अनेकों में जब एक आत्मा फंस जाती है, तब वह अशान्त और दुःखी होकर कष्ट पाती है। इसके विपरीत जब आत्मा अपने ही एकत्व भाव में समा जाती है, तो उसके सारे कष्ट कट जाते हैं और वह अपने ही अन्तरानन्द में निमग्न बन जाती है। .....चूड़ी से आत्मा का यह सत्य कितनी स्पष्टता से उद्घाटित हो गया है, क्या यह सोचा मेरा अपना सत्य नहीं हो गया है ? परिवार, राज्य, धन-सम्पदा इन सबसे घिरा हुआ मैं और क्यों कोई भी मुझे आरोग्य-लाभ नहीं दे पा रहा है ? कैसे बनूँगा मैं स्वस्थ ? अनेकों के बीच या एक के साथ ? एक कौन ? केवल मैं। आत्मभाव में रमण करना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

और नमि राजा मन ही मन सबका मोह त्याग, शरीर की सारी वेदना भूल, बल्कि शरीर को ही भूल, उसी समय आत्म-भाव में रमण करने लगे। उनके शरीर पर रात-भर चन्दन का लेप होता रहा, परन्तु वे तो आत्मा पर समभाव का लेप करते रहे। प्रातः होते ही उन्होंने शान्ति का अनुभव किया और उसके साथ ही प्रबल वैराग्य का।

अप्सराओं का मनमोहक नृत्य देखते-देखते शक्रेन्द्र ने अपने ज्ञान में देखा कि नमि राजा अकस्मात ही संयम में तत्पर हो चुके हैं। उसके मन में शंका जागी। क्या यह शुद्ध चिन्तन का परिणाम है या अस्थायी भावना का उद्रेक ? शंका ने परीक्षा के भाव को जन्म दिया और शक्रेन्द वहाँ से नमि मुनि को परखने चल पड़ा।

शक्रेन्द्र ने एक ब्राह्मण का रूप बनाया और नमि मुनि के सामने जा खड़ा हुआ। उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता हुआ वह बोला- ओ नमि ! मिथिला के राजप्रासादों से घोर रुदन एवं दारुण चीत्कार की आवाजें उठ रही हैं, क्या आप उन्हें सुन नहीं रहे ? और सुन रहे हैं, तो उन्हें सांत्वना क्यों नहीं बँधा रहे ?

नमि ने अपनी विचारणा को एक सुन्दर रूपक के रूप में प्रस्तुत की। वे कहने लगे- ब्राह्मण ! मथुरा में एक चैत्य-वृक्ष था। उसकी शीतल छाया में अनेक पक्षी विश्राम करते थे, उसके फूलों की सुगंध सबको तृप्त करती थी एवं उसके मधुर फल सबके प्राणों का पोषण करते थे। सब उस वृक्ष को अपना अति उपकारी मानते थे। तभी एक प्रचंड आंधी आयी, उसने उस वृक्ष को गिरा दिया। सभी पक्षियों का आश्रय टूट गया। यह उस आश्रय के टूटने का ही घोर रुदन और दारुण चीत्कार है। इससे अधिक कुछ नहीं।

आपका कथन सत्य हो सकता है, किन्तु इस समय तो आपका राज प्रासाद धू-धू करके जल रहा है और आप कम से कम रनिवास की ओर भी देख तक नहीं रहे हैं, क्या यह कष्टकारक निर्ममता नहीं ?

मेरे मन में इस समय न ममता है और न निर्ममता है, विप्र !

सब बन्धनों से मुक्त मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है। अनेकों से उठकर ही तो मैं एक बना हूँ। इसलिए मिथिला के जलने से मेरा कुछ नहीं जलता।

तो क्या आप अपने परिजनों के ही नहीं, सारी मिथिला नगरी के शत्रु हो गये हैं, जो उस ओर देखना तक नहीं चाहते ?

ऐसा कतई नहीं है। संसार से निवृत्त हो जाने के पश्चात् मेरे लिए न कोई वस्तु प्रिय है और न कोई अप्रिय। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति या स्थान के प्रति न मेरी कोई शत्रुता रही है, न मित्रता। मेरा हृदय सारे संकोच छोड़कर इतना व्यापक हो गया है, जहाँ सबके लिए मैत्री ही मैत्री है। मैं अब किसी एक का नहीं, सबका हो गया हूँ। किसी के प्रति राग नहीं, किसी के प्रति द्वेष नहीं, सबके प्रति समभाव ही समभाव मेरी आत्म-भावना में व्याप्त हो रहा है। मैं आत्माभिमुख हो गया हूँ।

इस प्रकार से शक्रेन्द्र ने अनेक प्रश्न किये, जिनका सटीक उत्तर नमि ने दिया। तब इन्द्र जान गया कि इनका वैराग्य आकस्मिक होते हुए भी यथार्थ है।

ब्राह्मण का रूप परिवर्तित हुआ और प्रकट होकर शक्रेन्द्र ने नमि की अभ्यर्थना की- आप धन्य हैं, आपका चिन्तन उत्कृष्ट है। आप न केवल राजा और न केवल ऋषि (मुनि) हैं, अपितु राजर्षि हैं। नमि ने दीक्षित होकर संयम का पालन किया एवं मोक्ष को प्राप्त हुए।

स्रोत : उत्तराध्ययन सूत्र।

सार : अनेक से एक और एक से अनेक की ओर गति करने से संसार स्वार्थ से परमार्थ के धरातल पर खड़ा हो सकता है।

❖ ❖ ❖

खून यूं खौलता है !

क्रोध सीमा पार कर जाता है, तो प्रतिशोध और प्रतिहिंसा जागती है और इस कारण खून यूँ खौल उठता है, जैसे वह कुछ भी कर गुजरेगा। वह अपने वश में रहता ही नहीं। हिंसक क्रोध ही उसका समूचा नियंत्रक बन जाता है।

यह ललित आदि छः मनमौजी, उद्दंड और दुराचारी मित्रों की गोष्ठी थी, जो किसी भी नियंत्रण को नहीं मानती थी। मनमाना करना और उत्पात मचाना इस ललितादि गोष्ठी का मुख्य काम था। ये दुष्ट लोग सज्जन पुरुषों को सताते थे और मदिरा का सेवन करके नानाविध कुकुर्म करते थे। एक बार किसी एकान्त स्थान में छःहों गोठियें मिले तो उनमें से एक ने बात चलायी कि आज मौसम भी सुहाना है और मन भी मतवाला हो रहा है। मैं देखकर आ रहा हूँ कि नगर से बाहरवाले उद्यान में अर्जुन माली की पत्नी बन्धुमती रूपवती है और युवा भी। आज हम सब उसी का रसपान क्यों न करें ? सभी का मत मिल गया और वे चुपचाप उद्यान में पहुँचकर यक्षमंदिर में छिपकर बैठ गये।

प्रतिदिन की तरह अर्जुन माली उद्यान में स्थित यक्षायतन में यक्ष की पूजा-अर्चना करने के लिए पहुँचा। उस यक्ष का नाम मुद्गर पाणि था। तदनुसार यक्ष प्रतिमा के एक हाथ में एक हजार पल निष्पन्न मुद्गर लिया हुआ था। जब पूजा करते हुए अर्जुन माली नीचे झुका,

तो अवसर देख उन छःहों दुष्टों ने उसे दबोच दिया और मुश्कें बाँधकर नीचे गिरा दिया। जटिल बंधन में बांध दिये जाने से वह विवश हो गया।

तब उसकी पत्नी बन्धुमती को वे वहीं ले आये और बारी-बारी से अर्जुन की आँखों के सामने ही उसके साथ काम-भोग भोगने लगे।

यह कोई भी व्यक्ति सह नहीं सकता कि उसकी पत्नी के साथ उसकी आँखों के सामने दुराचार किया जाय, पर उससे भी अधिक दुःखकर स्थिति वह होती है, जब वह उसे सह लेने के लिए विवश कर दिया जाये। अर्जुन माली इसी दुःखकर स्थिति से मन ही मन छटपटाने लगा। उसके क्रोध की सीमा नहीं रही। उसकी आँखें लाल हो गयीं और सारा शरीर रोषातिशय से थर-थर कांपने लगा। क्रोध सीमा पार कर जाता है, तो प्रतिशोध और प्रतिहिंसा जागती है और इस कारण खून यूँ खौल उठता है, जैसे वह कुछ भी कर गुजरेगा। वह अपने वश में रहता ही नहीं। हिंसक क्रोध ही उसका समूचा नियंत्रक बन जाता है।

अर्जुन माली की भी यही मनोदशा हो रही थी। वह भीषण क्रोध से तमतमा रहा था और चाह रहा था कि बंधन खुलें, तो वह उन्हें अपने प्रतिशोध की आग में जलाकर भस्म कर डाले। किन्तु वह बंधन में विवश तड़फड़ा रहा था। उसी तड़फड़ाहट में वह बिखर पड़ा उस मुद्गरपाणि यक्ष के विरुद्ध, जिसकी वह बालपन से नियमित पूजा-अर्चना करता आ रहा था। वह मन ही मन गरजा। यह यक्ष नहीं, नपुंसक है, जो मेरी आँखों के सामने होनेवाले दुराचार को देख रहा है, मेरी दारुण विवशता को देख रहा है, परन्तु इन दुष्ट पुरुषों के विरुद्ध दंडरूप कुछ भी नहीं कर पा रहा है। धिक्कार है इस यक्ष को और धिक्कार है मुझे, जो मैं अब तक इसकी सेवा करता रहा। यक्ष को सम्बोधित करते हुए वह जोर से चीखा। ओ मुद्गरपाणी यक्ष ! अगर तेरा अस्तित्व है, तेरा असर है, तो प्रकट हो, मेरे बंधनों को तोड़ ताकि मैं इन दुराचारियों से अपना बदला ले सकूँ। उसके बिना मुझे

चैन नहीं मिलेगा। अब भी अगर तू कुछ नहीं कर पाया, तो समझ लूँगा कि मैंने आज तक तेरी निरर्थक पूजा-अर्चना की, जिसे भविष्य में कभी नहीं करुँगा। तू निरा पत्थर है।

यक्ष तक भक्त की आवाज पहुँची और उसने अपना प्रभाव जताया। तड़तड़ करके यकायक अर्जुन माली के सभी बंधन अपने आप टूट गये। खौलते हुए खून से फड़फड़ाता हुआ उसका हाथ प्रतिमा के हाथ में पकड़े मुद्गर तक पहुँच गया। वह भारी मुद्गर उसने उठाया और यक्षाधिष्ठित अर्जुन माली गर्जना करता हुआ ललितादि गोष्ठी से भिड़ पड़ा। देखते-देखते उसने छःहों गोठियों और अपनी पत्नी को मौत के घाट उतार दिया।

छः पुरुष और एक स्त्री की हत्या। इसके बाद भयंकर गर्जना करता और मुद्गर घुमता हुआ अर्जुनी माली उद्यान से बाहर निकलकर नगरी की ओर चला। प्रतिदिन का उसका क्रम बन गया। छः पुरुष और एक स्त्री की हत्या।

सारे नगर में आतंक मच गया। यक्ष बल ने अर्जुन को मदोन्मत्त बना दिया। कोई भी सुभट उसे वश में कर लेने में समर्थ न हो सका और यह हत्याकांड प्रतिदिन चलता रहा।

राजगृही के महाराजा श्रेणिक चिन्तित हो उठे कि इस नर-पिशाच का क्या किया जाये ? नगर के द्वार बन्द करवा दिये, नागरिकों को बाहर न जाने की चेतावनी दे दी गयी और बचाव के अन्य उपाय भी किये गये, किन्तु यक्ष का क्रोध शान्त नहीं हुआ, तो अर्जुन माली का हत्याकांड भी बन्द नहीं हुआ। चौबीसों घंटे वह मुद्गर घुमाता हुआ नगर के बाहर चारों ओर घूमता रहता और भूले भटके नागरिकों को काल के ग्रास बनाता रहता। मृत्यु जैसे चारों ओर नृत्य कर रही थी।

इसी बीच भगवान महावीर का बाहर के उद्यान में पदार्पण हुआ, परन्तु नागरिक इतने आतंकित थे कि उग्र अभिलाषा रखते हुए

भी भगवान के दर्शन-वन्दन हेतु नगर से बाहर निकलने का साहस नहीं कर पाये। मन मसोसकर वे अपने-अपने घरों से ही भगवान की वन्दना करने लगे।

किन्तु सुदर्शन सेठ एक ऐसा भक्त था, जिसने निश्चय किया कि वह उद्यान में जाकर ही भगवान का दर्शन-वन्दन करेगा। चाहे जो बीते, वह घर में बन्द बैठा नहीं रहेगा। वह धर्मनिष्ठ और सत्साहसी था। उसने माता-पिता से अनुज्ञा प्राप्त की और नवकार मंत्र का जाप करके वह घर से निकल पड़ा। उसके हृदय में अपूर्व सत्साहस हिलोरें मार रहा था, जो मृत्यु के किसी भी आघात का सामना करने के लिए पूर्णतः सक्षम था।

ज्योंही सुदर्शन सेठ नगर द्वार से बाहर निकला, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। मौत का सन्नाटा। कुछ ही दूर वह चला होगा कि मृत्युदूत उसे मुद्‌गर घुमाता हुआ उसी की ओर आता दिखायी दिया। सेठ ने मन ही मन भगवान को वन्दन किया और सागारी संलेखना (संथारा) (आगार यह कि जीवित बचा, तो संलेखना पाल लेगा।) स्वीकार कर ध्यानस्थ हो गया। हुंकार करता हुआ अर्जुन माली उसी की ओर बढ़ा।

अर्जुन माली का रौद्र रूप हत्याओं के खून से भरी हुई देह और भीतर में अपना ही खौलता हुआ खून, हाथों में तेजी से घूमता हुआ भारी मुद्‌गर तथा बिजली की तरह दौड़ते हुए पाँव, मुख पर खिंची हुई प्रतिहिंसा की क्रूर रेखाएँ और कंठ से फूटती हुई गर्जन-तर्जन की डरावनी आवाज।

दूसरी ओर सुदर्शन का सौम्य स्वरूप। हृदय में साहस, समभाव और सदाशय का अतिरेक। ध्यानमुद्रा से मंडित सुदर्शनीय देह का मनोहारी आकर्षण, मुखमुद्रा पर शान्ति, स्नेह और करुणा के छलछलाते हुए भाव। सम्पूर्ण व्यक्तित्व जैसे प्राभाविकता का एक अनूठा केन्द्र हो। तुरन्त ही इन दो रूपों का आमना-सामना हो गया। सुदर्शन तो था उन्मीलित नेत्रों के साथ ध्यानस्थ, किन्तु अर्जुन तो उसे आँखें

फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उसका यक्ष भी जैसे शिथिल हो गया हो और मुद्गर निष्क्रिय। यह कौन है ? इतना कमनीय, इतना सुदर्शन, हिंसा और अहिंसा का जैसे द्वन्द्व ही प्रारंभ हो गया उसके अन्तर्मन में। पहला जोर हिंसा ने लगाया और मुद्गर सेठ सुदर्शन के मस्तक पर तन गया, पर हिंसा हार गयी पहले ही दौर में। मुद्गर तन तो गया, मगर गिर नहीं पाया। अहिंसा की जीत का डंका बजा और सुदर्शन की करुणा निर्झर की भांति फूट चली, जिसमें आकंठ डूब गया हिंसा और मृत्यु का वह दूत अर्जुन माली।

धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा अर्जुन-माली, क्योंकि यक्ष तो सुदर्शन के सामने ठहर ही नहीं पाया। "उपसर्ग टाम गया है" ऐसा अनुभव कर सुदर्शन ने अपना ध्यान खोला।

अर्जुन माली ने सुदर्शन से पूछा- आप कौन है ? कहाँ जा रहे हैं ?

सुदर्शन ने कहा- मैं भगवान के दर्शन करने जा रहा हूँ।

अर्जून माली ने पूछा- भगवान क्या होते हैं ?

सुदर्शन ने कहा- भगवान अनन्त करुणा के स्वामी होते हैं। उनके दर्शन करते ही मन में अनूठी शान्ति का संचार होता है। आत्मा का कण-कण आनन्द-विभोर हो उठता है।

अर्जुन ने कहा- क्या मुझ जैसा अधर्म पापी व्यक्ति भी उन भगवान के दर्शन कर सकता है ?

सुदर्शन ने कहा- हाँ-हाँ, क्यों नहीं? तुम मेरे साथ चलो।

अर्जुन माली ने गद्गद् होते हुए कहा- हे भव्य पुरुष ! आपने तो मुझे उबार लिया। जब आप करुणा की प्रतिमूर्ति हैं, तो आपके भगवान का तो कहना ही क्या ?

इस तरह वे दोनों भगवान के समवशरण की ओर चल पड़े।

अपने घरों की छतों से नागरिक यह दृश्य देख रहे थे। वे अर्जुन

माली के रूप-परिवर्तन से आश्वस्त होकर भगवान के दर्शन-वन्दन हेतु समूहों में निकल पड़े।

भगवान ने सेठ सुदर्शन, अर्जुन माली व महती धर्मसभा को सभी ने उस प्रवहमान अमृत का पान किया, अर्जुन माली ने भी। उसी अमृत का सुप्रभाव हुआ कि अर्जुन ने भगवान के समीप दीक्षा ग्रहण करने का अपना संकल्प बना लिया। धर्मसभा के विसर्जन के पश्चात् उसने अपना संकल्प प्रभु के समक्ष प्रकट किया। हिंसा का दूत अहिंसा का देवता बन गया।

फिर होने लगी अहिंसा के देवता की परीक्षा। मुनि अर्जुन जब भिक्षा हेतु नगर में निकलते, तो वह दृश्य रोमांचकारी होता। तब अर्जुन अनगार को देखकर कोई कहता- इसने मेरे पिता को मारा था और वह उन पर अपशब्दों की बौछार कर देता। कोई कहता इसने मेरी पत्नी को मारा था और वह उनके साथ मारपीट कर बैठता। जिधर भी वे निकलते, कोई लातें मारता, कोई लकड़ी से और कोई घूंसों से सारी यातनाएँ वे शान्त और समभाव से सहन करते। यह विचार कर कि सचमुच में वे इन सबके अपराधी हैं और उन सबको दंड देने का अधिकार है।

यूं उनकी आत्मा सहिष्णुता की साक्षात् मूर्ति बन गयी। अनगार अर्जुन मुक्त हो गये।

स्रोत : अन्तकृतदशांग सूत्र।

सार : प्रायश्चित्त की सच्ची भावना के समक्ष घोरतम पाप भी विगलिति हो जाता है और हो जाती है आत्मा परम शुद्ध।

❖ ❖ ❖

व्यथा कथा कड़वे तुम्बे की

धर्मरुचि मुनि का अन्त:करण भीतर ही भीतर चीत्कार कर उठा। एक साथ इतने प्राणियों का जीवनान्त और वह भी केवल एक दो बूँद के असर से ही।

प्राचीन भारत में चम्पा नामकी नगरी थी। वहाँ तीन ब्राह्मण भाई रहते थे। सोमदेव, सोममूर्ति और सोमदत्त, जिनकी पत्नियों के क्रमश: नाम थे- नागश्री, यज्ञश्री एवं भूतश्री ! तीनों भाइयों ने विचार किया- हम एक साथ ही भोजन करें। इसलिए एक-एक दिन की बारी से उनके घरों में भोजन होने लगा।

एक दिन भोजन बनाने का क्रम सोमदेव की स्त्री का था। उसने तुम्बे का पाक बनाया जिसमें बहुत मात्रा में घृत, शक्कर एवं मसालों का प्रयोग हुआ। बड़ी कुशलता से उसने वह पाक बनाया और जब बनकर तैयार हो गया, तो उसने अँगुली से उसे चखा। चखते ही वह सन्नाटे में आ गई। इतनी मूल्यवान वस्तुओं का प्रयोग किया था कि उसके द्वारा तैयार किये गये पाक की सभी घरवाले तारीफ करेंगे, किन्तु उसमें तो उसे लेने के देने पड़ गये। वह तुम्बा मीठा न होकर कड़वा था, जिस कारण सारा पाक बिगड़ गया, बल्कि विषमय बन गया था।

नागश्री भयभीत हो उठी कि इस बिगाड़ पर सब उसका उपहास करेंगे, बुरा-भला कहेंगे। क्या किया जाये ? वह सोचने लगी। उसे उपाय सूझा कि चुपके से वह उसे दूर फेंक आवे, लेकिन वैसा करना संभव नहीं हुआ। उसने उसे एक तरफ रखा दूसरा मधुर तूम्बे का पाक बनाकर सबको भोजन करा दिया।

धर्मघोष आचार्य के शिष्य धर्मरुचि मुनि, जिनके मासखमण का पारणा था, उन्होंने प्रथम प्रहर में स्वाध्याय दूसरे प्रहर में ध्यान किया, गुरु की अनुज्ञा प्राप्तकर शान्तभाव से भिक्षार्थ गमन किया। भिक्षाटन करते हुए नागश्री के घर में आ गये। नागश्री ने तो मुक्ति की सांस ली और मुनि के मना करते-करते ही सारा पाक मुनि के पात्र में उड़ेल दिया। अब मुनि का जो कुछ भी हो, नागश्री प्रसन्न हो गयी कि वह घरवालों के उपहास से बच गयी।

धर्मरुचि मुनि भिक्षा लेकर अपने गुरु धर्मघोष आचार्य के पास पहुँचे। उन्होंने लाया हुआ आहार देखा। पाक देखकर उन्हें यह आशंका हुई कि कहीं यह कटुक तो नहीं है, उन्होंने थोड़ा सा चखा। उन्होंने शिष्य से कहा- धर्मरुचि ! यह पाक तो कड़वे तुम्बे का है, सो विष-समान है। इसे तुम निरवद्य स्थान देखकर परठ आओ। गुरु की आज्ञा से मुनि धर्मरुचि उसे परठ आने के लिए निकले। वे कई स्थानों पर घूमे, किन्तु उपयुक्त रूप से निरवद्य स्थान उन्हें नहीं दिखायी दिया। एक ओर एकान्त में उन्हें एक स्थान दिखा, फिर भी वे उसकी निरवद्यता के प्रति आश्वस्त नहीं हुए, अतः एक-दो बूँदें उन्होंने उस पाक की उस भूमि पर गिरायीं, यह देखने के लिए कि वहाँ कोई कीड़ी आदि जन्तु तो नहीं आते हैं। वे जान गये थे कि इसकी मिठास, इसकी चिकनाई और गंध से आकर्षित होकर यदि कोई भी प्राणी इस पाक को चखेगा, तो वह कदापि जीवित नहीं बचेगा।

पाक की वे एक-दो बूँदें कुछ समय तक तो भूमि पर वैसे ही पड़ी रहीं, फिर एक दो कीड़ियाँ आयीं और देखते-देखते कीड़ियों की कतार ही लग गयी। जिन कीड़ियों का उस पाक से स्पर्श हुआ देखते

देखते वे मृत्यु को प्राप्त हो गईं। धर्मरुचि मुनि का अन्तःकरण भीतर ही भीतर चीत्कार कर उठा। एक साथ इतने प्राणियों का जीवनान्त और वह भी केवल एक दो बूँद के असर से ही। यदि सारा का सारा पाक परठा दिया जायेगा, तो कौन जाने कितनी भारी संख्या में जीवित प्राणियों का सर्वनाश हो जायेगा ? यह विष अत्यन्त घातक लगता है, तभी तो अल्पतम मात्रा का ही ऐसा मारक प्रभाव दिखायी दे रहा है।

धर्मरुचि मुनि पाक का पात्र अपने हाथों में पकड़े रहे। उसे भूमि पर उड़ेलने से एकदम रुक गये। उस दुष्परिणाम को देखकर इस पाक का वे क्या करें ? इसी गंभीर विचार में वे पड़ गये। उनका मन-मानस दया के कोमल भावों से अभिभूत हो उठा। एक-दो बूंदों ने ही अनेक प्राणों का हरण कर लिया तो वे सारे पाक को परठा कर प्राणी-संहार कैसे मचा दें ? गुरु ने निरवद्य स्थान पर परठाने की आज्ञा दी, किन्तु वैसा स्थान उन्हें कहीं दिखायी नहीं दिया। इस स्थान को उपयुक्त समझा, किन्तु परीक्षा करने पर वह भी अनुपयुक्त हो गया। अब कहाँ मिलेगा वैसा निरवद्य स्थान ?

कोमल करुणा से मुनि धर्मरूचि का अन्तःकरण ओतप्रोत हो गया। स्वयं ही क्यों न बन जायें वह निरवद्य स्थान ? एक का बलिदान, हजारों लाखों प्राणियों की रक्षा। इससे बढ़कर आध्यात्मिक उपलब्धि अन्य क्या होगी ? ये प्राण तो एक दिन जाने ही हैं। फिर आज ही क्यों नहीं ? पर रक्षण के हित में आत्मत्याग ही आत्मा का महान उत्स होता है, तो यह सब पाक मैं ही क्यों न खा लूँ ? मेरा मरण जीवन त्यौहार ही तो होगा, फिर क्यों न बचा लूँ इतने सारे निरपराध प्राणियों का हंसता-खेलता जीवन ?

मुनिवर ने अपने शरीर का परिमार्जन किया। फिर शान्ति और समता भाव से उन्होंने वह कड़वे तुम्बे का पाक स्वयं पी लिया। इतनी मात्रा में वह विष उनके शरीर के भीतर पहुँचते ही मरणान्तक वेदना का कारण बन गया। सारे शरीर में प्रबल पीड़ा उत्पन्न हुई और वह नीला पड़ गया। उसी समय पात्र साफकर उन्होंने संथारा ले लिया।

समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान में देव बने, जहाँ से च्यवकर वे मनुष्य जन्म लेंगे और मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

मुनि धर्म रुचि ने तो महान त्याग का परिचय देकर सद्गति प्राप्त कर ली, किन्तु कड़वे तुम्बे की व्यथा-कथा शुरू हो गयी नागश्री ब्राह्मणी के लिए। इस व्यथा-कथा का दुःखदायक विस्तार बहुत हुआ। कड़वे तुम्बे का कड़वापन भव-भावान्तरों तक फैलता ही गया, क्योंकि तुम्बे के कड़वेपन से ही अत्यन्त घातक था भावना का कड़वापन और वही कड़वापन नागश्री के उसी जन्म से लेकर अनेक जन्मों तक उसे कष्टित करता रहा। भावना की उत्कृष्ट सरणियों के साथ वह कड़वापन अन्ततोगत्वा मिटा, जब नागश्री का जीव सती द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुआ। द्रौपदी को भी उस कड़वेपन का भुगतान करना पड़ा और उसका जीवन भी उत्तरार्ध में जाकर ही मधुरता से आप्लावित हो सका।

तो उसके कड़वे तुम्बे की व्यथा-कथा यों चली।

जब नागश्री के इस दुष्कृत्य की जानकारी उसके पति सोमदेव को हुई, तो वह उस पर अति कुपित हुआ, उसने उसकी अवहेलना की, निन्दा की एवं उसे घर से बाहर निकाल दी। नगरजनों ने उसका तिरस्कार और अपमान किया। नागश्री स्थान-स्थान पर भटकती रही, कहीं उसे आश्रय नहीं मिला। उसका मन भीषण रूप से अस्वस्थ हो गया और धीरे-धीरे उसका तन भी सोलह रोगों से ग्रस्त होकर बुरी तरह अस्वस्थ बन गया। भयंकर वेदना के साथ कठिन परिस्थितियों में उसकी मृत्यु हो गयी।

वहाँ से मृत्यु नागश्री के जीव को छठी नरक में ले गयी। भावनाओं की पतनावस्था जटिल बनी रही और वह जीव नरक से मत्स्य, मय से नरक, नरक से उरग एवं इस प्रकार अनेक भव-भवान्तर करता रहा। फिर उसका जीव चम्पा नगरी में सागरदत्त सार्थवाह की पुत्री सुकुमालिका के रूप में उत्पन्न हुआ। युवा होने पर उसका विवाह जिनदत्त सार्थवाह के पुत्र सागर के साथ किया गया। किन्तु दुर्योग से सुकुमालिका के शरीर का स्पर्श तलवार जैसा तीखा और अग्नि जैसा

उष्ण था, अतः उसके पति ने उसका तत्काल त्याग कर दिया। दुखी होकर परित्यक्ता पत्नी अपने पिता के घर लौटी। पिता ने उसे अपनी दानशाला का कार्य संभला दिया। वहाँ कार्य करते हुए एक बार उसका आर्या गोपालिका से सम्पर्क हुआ। आर्या का धर्मोपदेश सुनकर वह संसार से विरक्त हो गयी। वह उसी के समीप साध्वी बन गयी।

आत्म-विकास की दिशा में मोड़ ले लेने पर भी कड़वे तुम्बे ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। साध्वी सुकुमालिका बेला, तेला आदि कठोर तप करती हुई विचरण करने लगी। एक समय वह अपनी गुरुणी की आज्ञा के बिना ही नगर के बाहर उद्यान में जाकर सूर्य का आतापना लेने लगी। वहाँ उसने देवदत्ता नामक गणिका के साथ एक ही समय में पाँच पुरुषों को क्रीड़ा करते हुए देखा। पति-सुख से वंचित उसका मन ओर आकृष्ट हो गया और उसने निदान कर लिया कि यदि मेरी तपस्या का कोई फल हो, तो मैं भी पाँच पुरुषों की वल्लभा-प्रिया बनूँ। अन्त समय में भी उसने निदान की कोई आलोचना नहीं की, अतः उसका वह पालित-चरित्र भी शिथिल हो गया।

देवलोक से चव कर वही जीव कांपिल्य नगर के द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुआ और इसी भव में उसका निदान पूर्ण हुआ, जिसके फलस्वरूप वह पाँचों पांडवों की एक पत्नी बनी। इसके उपरान्त भी उसे अपहरण की पीड़ा झेलनी पड़ी। एक बार नारद ऋषि पांड़वों के महल में गये। सबने खड़े होकर उनका सत्कार किया, किन्तु द्रौपदी को वैसा करने का ध्यान नहीं रहा। इस कारण नारद रुष्ट हो गये। भ्रमण करते हुए वे धातकीखंड में अमरकंका नगरी के राजा पद्मोत्तर के वहाँ पहुँचे और उससे उन्होंने द्रौपदी के अद्वितीय सौन्दर्य की चर्चा की। पद्मोत्तर उसे पा लेने के लिए लालायित हो उठा। उसने देवता की सहायता से द्रौपदी का हरण करवा लिया। इस प्रकार वह द्रौपदी को अपने राजा प्रासाद में चोरी-चोरी ले तो आया, किन्तु उसे अपनी महारानी बनाने के लिए राजी नहीं कर सका। महासती होने के कारण द्रौपदी अपने पतिव्रत धर्म में अडिग रही।

वासुदेव कृष्ण की सहायता से पाँचों पांडवों ने द्रौपदी का पता लगा लिया। उन्होंने राजा पद्मोत्तर के साथ युद्ध किया एवं विजय प्राप्त की। तब द्रौपदी को साथ लेकर वे अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ लौटे। कई वर्षों तक गृहस्थ धर्म का पालन करने के पश्चात् पांडवों ने भी दीक्षा ग्रहण की और द्रौपदी ने भी। पाँचों पांड़वों ने उत्कृष्ट चारित्र का पालन करके सिद्ध पद प्राप्त कर लिया, किन्तु द्रौपदी का जीव ब्रह्मदेव लोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वह अभी एक भव और करके सिद्ध पद को प्राप्त करेगा।

तब कहीं जाकर कड़वे तुम्बे की व्यथा-कथा का पूर्ण रूप से पटाक्षेप हो सकेगा।

स्रोत : ज्ञाताधर्मकथा सूत्र।

सार : कड़वे तुम्बे का पाक जानबूझकर श्रमण-संत को बहराने की दुर्भावना ने कितना बड़ा अनर्थ किया, अतः भावनाओं की शुद्धता और शुभता आत्मविकास हेतु अनिवार्य है। यही निदान जैसा संकुचित संकल्प करने को रोक सकती है।

❖ ❖ ❖

चाहा क्या, मिल गया क्या ?

मुझे यह धन नहीं चाहिये, मैं लेना चाहता हूँ, आत्मा का धन, भावना का धन, जिसे पाकर मैं सदा सुखी हो जाऊंगा। इसी भावना से वह मुनि बन गया देवों ने उसे मुनि वेष दिया फिर राजा के पास आ गया।

व्यक्ति अपने जीवन का स्वयं नियन्ता होता है, परन्तु यह अवश्य है कि अपने जीवन-निर्माण का उसका पुरुषार्थ भावनापूर्ण, संकल्पबद्ध एवं सुदृढ़ होना चाहिए। यह नहीं कि एक संकल्प किया और उससे शिथिल होकर किसी विकृति की दिशा में मुड़ गये। यदि संकल्पबद्धता स्थिर हो एवं तदनुरूप गति अडिग, तो कोई शक्ति उसे मार्गच्युत नहीं कर सकती है। कभी व्यक्ति का लक्ष्य छोटा और क्षुद्र होता है, ऐसा भी होता है, किन्तु भावश्रेणियों का ऐसा समुन्नत क्रम बनता है कि वह जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य में समाहित हो जाता है। कपिल ब्राह्मण के जीवन में भी ऐसे परिवर्तनों का दौर चला कि उसने चाहा क्या और मिल गया क्या ?

कपिल के पिता कौशाम्बी के राजपुरोहित थे, जो एक उद्भट विद्वान होने के कारण राजा जितशत्रु द्वारा मान्य तथा जनता द्वारा आदरणीय रहे। जब उनका देहावसान हुआ, तो जैसे घर का सारा सुख-ऐश्वर्य उन्हीं के साथ चला गया। उस समय कपिल मात्र बालक था और उसकी माता राजगौरव समाप्त हो जाने से खिन्न एवं दुःखी।

उनके स्थान पर नये राज-पुरोहित की नियुक्ति हुई और उसकी शोभा यात्रा निकाली गयी। अपना पद ग्रहण करने के लिए नये राज-पुरोहित धूमधाम से अपने घर से राज-प्रासाद की ओर चले। वह शोभा यात्रा दर्शनीय थी और नगरजन उसे देखने के लिए उमड़ पड़े। बालक कपिल ने भी वह शोभायात्रा देखी। हर्षित होता हुआ वह उस शोभायात्रा का विवरण सुनाने अपनी माता के पास घर के भीतर पहुँचा। वह ज्यों ही शोभायात्रा का विवरण सुनाने लगा, उसकी विधवा माँ फूट-फूट कर रो पड़ी। कपिल कुछ नहीं समझा, किन्तु वर्णन सुनाने का उसका उत्साह ठंडा पड़ गया। बालकोचित आश्चर्य और दुःख के स्वर में वह बोला- यह तुम्हें क्या हो गया है माँ, जो तुम यों फूट-फूट कर रो पड़ी हो ? तुम नहीं चाहती, तो मैं तुम्हें नये राज-पुरोहित की शोभायात्रा का वर्णन नहीं सुनाऊँगा।

पुत्र तुम बालक हो, तुम नहीं समझ पाओगे कि तुम्हारे पिता का स्थान-गौरव किसी अन्य व्यक्ति को मिल रहा हो, तो वह कितना कष्ट कारक होता है ?

तुम्हारे कहने का क्या यह अर्थ है माँ, कि पिता का स्थान-गौरव उसके पुत्र को ही मिलना चाहिए और वह मुझे नहीं मिला, इस कारण तुम दुःखी हो रही हो ? तुम चिन्ता न करो, वह गौरव मुझे मिला नहीं, तो उसे मैं प्राप्त करके दिखलाऊँगा।

पुत्र के उत्साह को समझ माँ का मन खिन्नता से प्रफुल्लता की ओर मुड़ गया, मुस्कुराते हुए उसने पूछा- बेटे ! क्या सचमुच ऐसा कर दिखलाओगे तुम ? मैं उस दिन की उत्सुकता से प्रतीक्षा करूँगी।

क्यों नहीं माँ, मैं अवश्य यहाँ का राज-पुरोहित बनूँगा। क्या मैं ऐसा नहीं कर सकता ?

अवश्य कर सकते हो पुत्र ! किन्तु इसके लिए तुम्हें श्रमपूर्वक अध्ययन करना होगा और उद्भट विद्वान बनना होगा।

मैं अवश्य विद्वान बनूँगा, माँ ! तुम तो मेरी पढ़ाई का प्रबंध कर दो।

माता यशा ने विचार किया कि कौशाम्बी में तो अन्य सभी विद्वान उसके पति के गौरव से ईर्ष्या करते थे, अतः वे हृदय से कपिल को विद्वान बनाने का उपक्रम नहीं कर पायेंगे। उसे कहीं अन्यत्र ही अध्ययन हेतु भेजना होगा। सोचते-सोचते उसे श्रावस्ती के उपाध्याय एवं अपने पति के घनिष्ठ मित्र इन्द्रदत्त की याद आयी और उसे विश्वास हो गया कि उनकी सेवा में रहकर कपिल अवश्यमेव विद्वान बन सकेगा। उसने अपने पुत्र को वहीं जाने का निर्देश दे दिया। कपिल ! तुम श्रावस्ती ही चले जाओ। उपाध्याय इन्द्रदत्त तुम्हारे पिता के मित्र हैं और तुम्हें वे अवश्य सुयोगय बना देंगे।

श्रावस्ती के उपाध्याय इन्द्रदत्त विख्यात विद्वान किन्तु सरल स्वभावी थे। प्रातः जब वे अपनी पूजा से उठे ही थे और एक बालक ने आकर उन्हें प्रणाम किया तो उस सुसंस्कारी बालक को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए, किन्तु उसे पहिचान नहीं पाये, पूछने लगे- बालक ! तुम कौन हो और यहाँ मेरे पास किस प्रयोजन से आये हो ?

मैं कौशाम्बी के दिवंगत राजपुरोहित का पुत्र कपिल हूँ। मेरी माता ने मुझे आपके पास अध्ययन करने के लिए भेजा है, ताकि विद्वान होकर मैं अपने पिता का राजपद प्राप्त कर सकूँ।

सुनते ही इन्द्रदत्त ने कपिल को अपनी गोद में भर लिया और कहा- मेरे लिए यह अतीव हर्ष का विषय है। तुम मुझे पिता ही समझो और दत्तचित्त होकर अध्ययन आरंभ कर दो। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो, यही मेरा आशीर्वाद है।

इन्द्रदत्त ने कपिल की आवास-व्यवस्था सेठ शालिभद्र के यहाँ कर दी और उसे प्रेमपूर्वक पढ़ाने लगे।

मनुष्य चाहता क्या है और उसके हाथ में क्या आ जाता है। यह उसका ही गति-दोष होता है। कपिल वहाँ उद्भट विद्वान बनने के लिए आया था, किन्तु किसी और जाल में ही उसके पाँव फंस गये तथा वह विद्वान बनने के स्थान पर पागल प्रेमी और दीन-हीन भिक्षुक

बन गया। हुआ यह कि शालिभद्र सेठ के यहाँ रहते हुए ही वह यौवन की देहरी पर चढ़ा और वहाँ की एक दासी के प्रेम-पाश में आबद्ध हो गया। चढ़ता हुआ यौवन अनुकूल साधन के निमित्त से पगला जाता है और युवा कपिल भी उस दासी के मोह में पागल हो गया एवं भुला बैठा विद्वान बनने और राजपुरोहित का पद पाने के अपने लक्ष्य को। इन्द्रदत्त ने उसे सावचेत किया, समझाया और अपने दायित्व एवं उसके लक्ष्य का भान दिलाया, लेकिन कपिल के पागलपन पर उसका कोई असर नहीं हुआ।

तभी नगर में वसन्तोत्सव का आयोजन हुआ, जिसमें भाग लेने के लिए तरुण, तरुणियाँ, प्रेमी, प्रेमिकाएँ और युवा दम्पत्ति उत्कंठित हो उठे। कपिल की प्रेमिका दासी भी उसे लेकर उत्सव में सम्मिलित होना चाहती थी, परन्तु उसके पास आभूषण तो नहीं ही थे, नवीन वस्त्र तक नहीं थे, अतः उसने कपिल से कहा- वसन्तोत्सव यौवन का उत्सव है, इसमें हमें भाग लेना ही चाहिए, पर इसके लिए तुम मुझे कम से कम नये वस्त्र तो लाकर दो, ताकि नये उत्साह और नयी छटा के साथ हम उसमें सम्मिलित हों।

कपिल था अध्ययन करने वाला बटुक, जो सेठ के यहाँ खाता था और उपाध्याय के पास पढ़ता था। उसके पास धन कहाँ था जो अपनी प्रेमिका के लिए वह नवीन वस्त्र भी क्रय कर पाता। उसका मुँह उतर आया, उससे कोई उत्तर देते नहीं बना।

प्रेमिका की भी विवशता थी, बोली- नगरी की सारी युवतियाँ सजधज रही हैं, तुम मेरे लिए मूल्यवान वस्त्र न ला सको, तो नये सादे वस्त्र ही ले आओ। उन्हें ही पहनकर वसन्तोत्सव मना लूंगी। मैं तुम्हें हृदय से प्रेम करती हूँ, अब मैं तुम्हीं से न माँगूं, तो बताओ किससे कहूं ?

क्या उत्तर दे कपिल ? कुछ तो कहना ही होगा- वह बोला- प्रिये, मेरे पास तो फूटी-कौड़ी भी नहीं है, भला, मैं तुम्हारी माँग की पूर्ति कैसे कर सकता हूँ ?

दासी भी विचार में पड़ गयी, कुछ सोचकर कहने लगी। पुरुषार्थ कर धनार्जन करना श्रेयस्कर है, किन्तु ऐसा अवसर भी तुम्हारे सामने नहीं। तुम ब्राह्मण-पुत्र हो। अतः भिक्षा माँगने में तुम्हें संकोच नहीं होना चाहिए। यहाँ का धन नामक श्रेष्ठि प्रतिदिन प्रातः प्रथम पहुँचकर उन्हें वर्धापन करने वाले ब्राह्मण को दो स्वर्णमुद्रा दान में देता है। कल तुम वही ले आओ और उससे अभी अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेंगे।

कपिल को उसका कथन भा गया। ब्राह्मण को भिक्षा माँगने में कैसी लज्जा ?

सावधान ! सावधान ! चोरों से सावधान ! जागते रहो। श्रावस्ती के राजमार्गों पर रात में सैनिक पहरा दे रहे थे कि अचानक एक सैनिक को गली से निकलती हुई एक काली छाया दिखायी दी। वह ठिठक गया, कौन है ? 'जोर से बोला। काली छाया खड़ी रही, काँपी और गिड़गिड़ाती हुई बोली, -मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ, चोर नहीं हूँ।

चोर नहीं है और आधी रात को गलियों में घूम रहा है। इस वक्त भी क्या कोई कहीं यज्ञ करवा रहा है ? झूठे कहीं के, पकड़ा गया, तो कहने लगा, ब्राह्मण है, चोर नहीं है- कहते हुए सैनिक ने उसे धर दबोचा और कारागार में बन्द कर देने को उसे ले चला। उसने उस का कोई तर्क नहीं माना।

वह काली छाया कपिल की ही थी। प्रेम में अंधा बना वह स्वर्ण मुद्रा पान के लिए आधी रात को ही घर से निकल पड़ा था, इस आशंका से कि कहीं उसे विलम्ब न हो जाये और कोई अन्य ब्राह्मण प्रातःकालीन वर्धापन की दो स्वर्ण मुद्राएँ सेठ से लेकर न चला जाये।

विद्वान न सही, पर कपिल पागल बना, भिक्षुक बना और अब बन्दी ही बन गया। कहाँ वह अपना स्थान राज्यसभा में सुरक्षित करना चाहता था और उसका स्थान उस रात सुरक्षित हो गया, राज्य के कारागार में।

प्रातः बन्दी कपिल को प्रस्तुत किया गया श्रावस्ती के राजा प्रसेनाजित के समक्ष, क्योंकि न्यायदान का पवित्र कार्य प्रतिदिन वह स्वयं ही किया करता था। ज्यों ही उसकी दृष्टि कपिल के मुख पर पड़ी, उसे तनिक भी शंका नहीं हुई। ऐसा सुसंस्कारी दिखायी देनेवाला युवक अपराधी हो सकता है ? फिर भी वह बन्दी था और राजा को इस का न्याय करना था। वे बोले- क्या किया है तुमने, युवक ?

क्या बोलता कपिल ? रात भर उस की आत्मा उसे धिक्कारती रही कि क्या चाहा था और क्या ले लिया है तुमने ? विद्या के स्थान पर अपराध का आरोप ? वह पछता रहा था। राजा को उत्तर देना अनिवार्य था, कहने लगा- राजन ! न मैं चोर हूँ, न मेरा कहीं चोरी करने का इरादा था। मुझे कुछ धन की अत्यन्त आवश्यकता थी। मुझे पता चला कि धन नामक सेठ बड़े सवेरे वर्धापन करनेवाले पहले ब्राह्मण को दो स्वर्ण मुद्रा देता है, अतः उसे ही लेने मैं आधी रात को ही निकल पड़ा कि कहीं मैं चूक न जाऊँ।

राजा को विश्वास हो गया कि वह वास्तव में चोर या अपराधी नहीं है। उसने प्रत्यक्ष में पूछा-ब्राह्मण, तुम सत्य तो कह रहे हो ?

राजन ! एकदम सत्य, मैं निरपराध हूँ।

यदि सत्य बोल रहे हो, ब्राह्मण ! तो हम तुमसे प्रसन्न हुए। दो स्वर्ण मुद्रा तो तुम्हें मिल ही जायेगी, पर हमारी इच्छा है कि अभी तुम चाहो, सो माँग लो।

कपिल ब्राह्मण तो भौचक्का रह गया। कहाँ तो वह दंड पाने की आंशका कर रहा था ? और कहाँ वरदान देने का राजा का आश्वासन ? साथ ही राजा ने कहा-अशोक वन में जाकर शान्ति से विचार कर लो। उसका मन तरह-तरह की कल्पनाओं में गोते खाने लगा। दस, सौ, नहीं हजार स्वर्ण मुद्राएँ माँग लूँ, ताकि अपनी प्रेमिका से विवाह करके दीर्घकाल तक सुख भोगता रहूँगा। लेकिन हजार स्वर्ण मुद्राएँ तो जल्दी ही समाप्त हो जायेंगी, फिर नवीन वस्त्र ही

क्या, अपनी प्रेमिका के लिए मूल्यवान वस्त्र और अलंकार भी तो लाऊँगा तो एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ माँग लूँ।

कपिल फिर सोचने लगा लक्ष मुद्राओं से क्या होना है, कोटि मुद्राएँ माँगना ठीक रहेगा। जब राजा दे ही रहा है, तो माँगने में कंजूसी क्यों की जाये ?

इस प्रकार चिन्तन चल ही रहा था कि चिन्तन ने मोड़ ले लिया- सोचने लगा, मेरे से बढ़कर कोई दुष्ट मिलेगा इस सारे संसार में ?

जो लाभ होने पर लोभी बनता गया। मैं ब्राह्मण हूँ, ब्राह्मण को धन बटोरने से क्या मतलब ? कोई दातारी करे, इसका मतलब यह तो नहीं कि मैं उसकी दातारी का गलत फायदा उठाऊँ ऐसा विचारते हुए उसे स्वयं अपना जीवन धिक्कारमय लगा। वह अपने ही मन से कहने लगा। धिक्कार है मुझ नीच को, धिक्कार है मेरी पापमय चाहना को, निर्लज्जता की सीमा भी लाँघ गया हूँ मैं, जो संसार के सुख पाने के लिए पतन के इस दौर में पहुँच गया हूँ। मुझे यह धन नहीं चाहिये, मैं लेना चाहता हूँ, आत्मा का धन, भावना का धन, जिसे पाकर मैं सदा सुखी हो जाऊंगा। इसी भावना से वह मुनि बन गया देवों ने उसे मुनि वेष दिया फिर राजा के पास आ गया।

उसी कपिल मुनि का आध्यात्मिक चिन्तन ऊपर से ऊपर की श्रेणियों में चढ़ता गया। राजा ने कहा- बोलो ! क्या विचार किया ? उसने कहा- राजन ! जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। यह मैं ने भली-भांति जान लिया है। अत: मैंने निर्लोभी बनने का विचार किया। तदनुसार ही मैं मुनि बना हूँ। अब मुझे कुछ भी धन नहीं चाहिए। कपिल की बात सुन राजा आश्चर्यचकित हो गया। उसने उनकी वंदना की। अन्तर से हजारों हजार वार धन्यवाद !

स्रोत : उत्तराध्ययन सूत्र-चूर्णि

सार : भावना की उत्कृष्टता से जन्म-जन्मान्तरों का चरम लक्ष्य पलों में प्राप्त हो सकता है।

❖ ❖ ❖

पोट्टिला की प्रतिबोध शैली

> मनुष्य के मन की गति बड़ी अनोखी होती है उसके सम्पूर्ण राग का केन्द्र कब भीतर ही भीतर घृणा और उपेक्षा का केन्द्र बन जायेगा यह ज्ञान उस मन को धारण करनेवाले मनुष्य तक को पहले नहीं होता।

अतिशय लावण्यवती थी पोट्टिला। इतना भरपूर लावण्य कि कोई उसे देखे, तो पहली ही दृष्टि में उस पर मुग्ध हो जाये। तेतली-पुर तो क्या, आसपास के सभी क्षेत्रों में ऐसा अपूर्व रूप-लावण्य न किसी ने सुना, न किसी ने देखा।

पोट्टिला तेतलीपुर के स्वर्णकार कलाद की पुत्री थी। उसकी माता का नाम भद्रा था। उस नगर का राजा कनकरथ था, जिसका अमात्य तेतलिपुत्र अतीव योग्य, चतुर एवं कार्यकुशल था।

कलाद का अपनी पुत्री पर विशेष स्नेह था। उसने उसके लिए क्रीड़ा हेतु ऐसा स्वर्ण गेंद तैयार किया, जो अनुपम कलाकृति रूप था। पोट्टिला भी उस गेंद से खूब खेला करती थी। एक बार वह अपनी छत पर मगन-मन उस गेंद से खेल रही थी। उस समय उसकी सौन्दर्य-छवि इतनी आकर्षक प्रतीत हो रही थी कि जैसे स्वर्ग की कोई अप्सरा ही क्रीड़ा-किलोल कर रही हो। तभी राजमार्ग से अमात्य तेतलिपुत्र अश्वारूढ़ हो उधर से निकल रहा था। अकस्मात ही उसकी दृष्टि

पोट्टिला पर पड़ गयी। वह तत्क्षण उस पर विमुग्ध हो उठा। वह अतृप्त नयनों से उसे देखता रहा और लोक से लाज से जब वह वहाँ से चला, तो वह सुन्दर छवि उसके नयनों से उसके हृदय की गहराई में उतर गयी। उसे लगने लगा कि अब वह उसके बिना एक पल भी नहीं रह पायेगा। वह पोट्टिला पर बुरी तरह से मोहित हो चुका था।

तेतलि पुत्र ने अपने विश्वस्त अनुचर को उस अद्वितीय सुन्दरी का पता लगाने को कहा। जब उसे विदित हुआ कि वह कलाद नामक स्वर्णकार की पुत्री है, तो उसने उसके पास विवाह का सन्देश भेज दिया। स्वर्णकार उस सन्देश से बहुत प्रसन्न हुआ कि उसकी पुत्री अमात्य की पत्नी बनेगी। शीघ्र ही दोनों का विवाह हो गया और तेतलिपुत्र काम-भोगों में अत्यन्त गृद्ध बनकर अपना वैवाहिक जीवन व्यतीत करने लगा।

तेतलीपुर का राजा कनकरथ एक विचित्र स्वभाव का व्यक्ति था। यह लोकोक्ति ही नहीं, नीति वाक्य भी है कि पिता अपने पुत्र को अपने से प्रगति में सवाया होता हुआ देखना चाहता है, जो उसकी परम प्रसन्नता का विषय होता है। किन्तु कनकरथ जैसे अपने पुत्रों का शत्रु ही था। ज्योंही उस की रानी को पुत्र उत्पन्न होता, वह उसे या तो मार ही डालता अथवा विकलांग करके छोड़ देता। वह यह नहीं चाहता था कि उसका कोई पुत्र सबल और सुयोग्य हो तथा उससे उसके राज्य का अपहरण कर ले। राज्य खोने की आशंका से वह सदैव पीड़ित रहता और इसी कारण वह अपने किसी पुत्र को जीवित नहीं छोड़ता।

पुत्रों के इस हत्याकांड से उसकी रानी बहुत दुःखी थी। सन्तान का छिन जाना मनुष्य की माँ तो क्या, पशु-पक्षी की माँ भी सहन नहीं कर सकती है, परन्तु रानी राजा के आतंक के आगे विवश थी। एक बार जब वह पुनः गर्भवती हुई, तो उसने निश्चय किया कि किसी भी उपाय से वह इस बार अपनी सन्तान की रक्षा करेगी, पर कैसे यह उसको सूझ नहीं पड़ता था। अन्त में उसने अमात्य तेतलिपुत्र को अपने पास बुलाया और कहा तेतलिपुत्र ! तुम योग्य और विश्वसनीय हो। क्या मेरा एक कार्य कुशलतापूर्वक पूरा कर सकोगे ?

महारानी ! आप तो आज्ञा दीजिए, मैं आपके कार्य को प्राणपण से पूरा करने का प्रयास करूँगा।

अमात्य ! तुम अपने राजा को तो जानते ही हो, वह मेरे किसी पुत्र को आशंकावश जीवित नहीं रहने देता है। मैं फिर गर्भवती हुई हूँ और चाहती हूँ कि इस बार होने वाले पुत्र की सुरक्षा का भार तुम सम्हालो। वह जीवित रहेगा तो वृद्धावस्था में मेरी सेवा करेगा।

आप निश्चिंत रहें, रानी जी ! इस बार जन्म लेनेवाला पुत्र अवश्य जीवित रहेगा। मैं उसे जन्म लेते ही गुप्त रीति से अपने ही घर ले जाऊँगा और वहाँ उसका राजरीति से ही पालन-पोषण करवाऊँगा। संभव हुआ तो मैं अपनी सन्तान का आपके पुत्र की रक्षा हेतु बलिदान भी दे दूँगा, क्योंकि मेरी पत्नी पोट्टिला को भी इस समय इतना ही गर्भकाल है।

रानी ने निश्चिन्तता की सांस ली और अपने गर्भ का बड़े चाव से पालन करने लगी। रानी के सौभाग्य से उसने और पोट्टिला ने एक ही दिन अपनी-अपनी सन्तान को जन्म दिया। रानी को पुत्र जन्मा, तो पोट्टिला को मृत कन्या। अमात्य ने बड़ी कुशलता से सन्तान का अदला-बदला कर दिया। जाहिर हो गया कि रानी को मृत कन्या ने जन्म दिया है। यह जान राजा कनकरथ निश्चिन्त हो गया।

अमात्य ने रानी के पुत्र को पोट्टिला को सौंपा और उसका भलीभाँति लालन-पालन करने का निर्देश दिया। तेतलिपुत्र ने पुत्र-जन्मोत्सव भी बड़ी धूमधाम से मनाया और पुत्र का नाम कनकध्वज रखा। इस नाम का स्पष्टीकरण दिया कि राजा सारी प्रजा का और उसका स्वामी है। अतः उसी के नाम पर उसने अपने पुत्र का नामकरण करना सर्वथा उचित माना है।

तेतलिपुत्र के संरक्षण और पोट्टिला के प्यार में कनकध्वज दूज के चन्द्रमा की तरह अभिवृद्ध होने लगा। धीरे-धीरे वह सुदर्शनीय युवक हो गया और साथ ही अनेक विद्याओं एवं कलाओं में निपुण भी हो गया।

मनुष्य के मन की गति बड़ी अनोखी होती है उसके सम्पूर्ण राग का केन्द्र कब भीतर ही भीतर घृणा और उपेक्षा का केन्द्र बन जायेगा यह ज्ञान उस मन को धारण करनेवाले मनुष्य तक को पहले नहीं होता। जिस पोट्टिला के साथ घनिष्ठ रूप से मोहित होकर तेतलिपुत्र ने उसके साथ विवाह रचाया था और अत्यन्त आसक्ति के साथ उसके संग काम-भोगों का आनन्द लिया था, वही पोट्टिला अब उसके लिए उपेक्षा की पात्र बन गयी। पोट्टिला से उसका मन भर गया। इतना कि वह उसकी तरफ देखना भी पसन्द नहीं करता था। अपनी पत्नी पर उसने किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं लगाया। बस, इतना ही हुआ कि दोनों के बीच में प्रेम की जो अपूर्व सुगंध फैली हुई थी, वह पूरी तरह उड़ गयी। फूल वैसे ही थे, रंग भी वही, पर उनमें सुवास नहीं रही।

पोट्टिला इस उपेक्षित व्यवहार से बहुत चिन्तित एवं दुःखी रहने लगी। वह समझ गयी कि उसके जीवन का दुर्भाग्य प्रारंभ हो गया है, फिर भी वह सन्तोष माने बैठी थी कि बाहर तो सब कुछ वैसा ही है और लोक-निन्दा की आशंका से वह मुक्त है। वह अपनी जलन और पीड़ा को भीतर ही भीतर छिपाये रखती थी।

एक बार सुव्रता नामकी आर्या वहाँ पधारी। उनकी शिष्याएँ भिक्षा हेतु तेतलिपुत्र के घर भी आयी। पोट्टिला ने भावों के साथ उन्हें भिक्षा दी और अज्ञानवश अपने दुःखी दिल की दवा उनसे पूछी। ओ आर्याओं ! मैं एक बात से बहुत दुःखी हूँ। मेरा पति मेरे प्रति अत्यन्त उपेक्षित हो गया है। आप तो चारों भ्रमण करती है, कोई मंत्र, तंत्र या औषधि मुझे बतायें ताकि उस का प्रेम मैं पुनः-पुनः प्राप्त कर सकूँ।

प्रमुख आर्या ने पोट्टिला को समझाया- हम श्रमणियाँ हैं और जो तुमने पूछा है, उसे सुनने से भी हमें दोष लगता है। यदि तुम अपने दुःख का निवारण धर्म की शरण में आकर करने की अभिलाषिणी होओ, तो हम तुम्हें धर्म का सुखदायक मर्म समझा सकती हैं और वस्तुतः धर्म से ही सच्चा कल्याण हो सकता है।

पोट्टिला किसी भी दिशा से अपने अन्तःकरण में सुख की

किरण फूटती हुई देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी। उसने उनसे ध र्मोपदेश सुना, सत्प्रभाव ग्रहण किया और श्राविका-धर्म अंगीकार कर लिया। तब पूर्ण श्रद्धा के साथ वह अपने धर्म का पालन करने लगी। उस मार्ग पर चलते हुए उसका सुखानुभव बढ़ने लगा, तो अगली बार जब आर्या सुव्रता वहाँ विहार करती हुई आई तो पोट्टिला ने उसे पूर्ण विरक्ति के साथ उनके पास दीक्षा स्वीकार कर ली। पति की आज्ञा उसे सरलता से मिल गयी, श्रमणी बनकर उसने उत्कृष्ट रीति से संयम और तप की आराधना की तथा अन्त में समाधि मरण को प्राप्तकर देवता रूप से उत्पन्न हुई।

देव-जन्मधारण करते ही पोट्टिला के जीव को अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आया और उसने निश्चय किया कि अपने पूर्व पति तेतलिपुत्र को इस शैली से प्रतिबोध दिया जाना चाहिए कि वह अपने घोर आसक्त भावों का त्यागकर धर्म की शरण में चला आये और अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक बना ले। वह देव इस हेतु उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

अपना आयुष्य पूर्ण हो जाने से राजा कनकरथ जब मरण को प्राप्त हुआ, तब उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि राजा का उत्तराधिकारी कौन हो ? तेतलिपुत्र के लिए तब कनकध्वज के रहस्य को उजागर करने का उपयुक्त समय आ गया। उसने कनकध्वज के सम्बन्ध में पूरी बात सबको बतायी और अनुरोध किया कि कनकरथ का ही पुत्र होने से कनकध्वज का ही राज सिंहासानरोहण कराया जाना चाहिए। सबकी समस्या का सही समाधान मिल गया, फिर किसी को भी क्या आपत्ति हो सकती थी ? समारोहपूर्वक कनकध्वज तेतलीपुत्रर का राजा हो गया।

प्रजा तो इससे हर्षित हुई ही, परन्तु रानी पद्मावती को जो हर्ष हुआ, वह अकल्पनीय था। यह सब अमात्य की ही कृपापूर्ण सहानुभूति का सुपरिणाम था, अत: जब राजा बनकर कनकध्वज अपनी माता की पद-वन्दना करने आया, तो माता ने उसे सीख दी। प्रिय पुत्र ! मेरे

समस्त आशीर्वाद तुम्हारी चहुर्मुखी उन्नति के लिए हैं। किन्तु एक बात हृदय में धारण कर लो कि यह तुम्हारा जीवन और सिंहासनारोहण अमात्य तेतलिपुत्र की कृपा के कारण ही है। अतः उन्हें सदा पिता-तुल्य मानना एवं उनकी सम्मति का सदा सम्मान करना।

अमात्य का सम्मान बढ़ा, तो उस की आसक्ति भी बढ़ गयी। आसक्ति बढ़ी, तो काम-भोगों की लिप्सा भी। इसी प्रकार वह सदा भोग विलास में ही डूबा रहने लगा।

मन की ही फिर चर्चा करें। एक तो तेतलिपुत्र का मन था, जो भंवरे की तरह सुन्दर-सुगंधित पुष्प पर लुब्ध हुआ और सारा पराग खींचकर उसी पुष्प से विमुख हो गया। दूसरा पोट्टिला का मन था, जिसने पति के घोर उपेक्षा भाव को दुःखी मन से ही सही, सहा और उसके सच्चे कल्याण की कामना की। कामना ही क्या, सचोट प्रयास किया। एक जन्म में उसे सफलता नहीं मिली, तो दूसरे जन्म में भी अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण सचेष्ट बन गयी। यह एक मन और दूसरे मन के अन्तर की ही तो बात है।

पोट्टिला देव ने संकेत रूप से तेतलिपुत्र को प्रतिबोध देने का प्रयास किया, परन्तु उन संकेतों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। देव ने तब प्रतिबोध की नई शैली अपनायी।

देव ने अपने ज्ञान में देखा कि तेतलिपुत्र को सभी प्रकार का राजसुख प्राप्त है, अतः वह एक प्रकार से सुखान्ध हो रहा है और जब-तक उसका यह अन्धापन नहीं छूटेगा, वह धर्म की दिशा में प्रतिबुद्ध नहीं बनाया जा सकेगा। इस दृष्टि से राजा कनकध्वज और तेतलिपुत्र के बीच मनभेद होना आवश्यक है। देव ने पहला प्रयास इसी दिशा में किया।

एक दिन अमात्य जब राजा के पास पहुँचा, तो राजा ने उसकी उपेक्षा की। उस उपेक्षा से वह राजा का विरोधी हो गया। अपनी उपेक्षा को वह दीर्घकाल तक नहीं समझ पाया, परन्तु राजा की उपेक्षा उसे

एक पल में खल गयी और इतनी कि आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया।

पोट्टिला की प्रतिबोध शैली आगे चली। तेतलिपुत्र ने आत्महत्या के एक के बाद एक उपाय किये, पर किसी में भी उसे सफलता नहीं मिली। कालकूट विष पिया, तो वह निष्प्रभावी रहा, गले पर तलवार का वार किया, पर घाव तक नहीं हुआ, वृक्ष से लटककर फांसी खानी चाही, तो रस्सी ही टूट गयी और आग में कूदा, तो आग ही शान्त हो गयी। वह हताशा में डूब गया कि मरना भी उसके हाथ नहीं रहा।

उसी समय पोट्टिला देव प्रकट हुआ और उसे प्रतिबोध दिया- हे तेतलिपुत्र ! आगे खड्डा है और पीछे हाथी का भय। बीच में बाणों की वर्षा हो रही है, इस विपदा में धर्म की शरण है। धर्म की शरण ले और सब का शरणदाता बन। देव अदृश्य हो गया, तेतलिपुत्र धर्म की शरण में चला गया और केवल ज्ञान प्राप्त करके सबका शरणदाता बन गया।

स्रोत : ज्ञाता धर्म कथा सूत्र।

सार : धर्म के अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर धर्म की उपलब्धि होती है।

❖ ❖ ❖

सोना कुन्दन बन गया

परिजनों के अमित प्यार और श्रेष्ठ राजसुखों में पला मुनि गजसुकुमार का शरीर सुन्दरता ही नहीं, सुकोमलता की प्रतिमूर्ति था। उनकी चमड़ी को कभी एक खरौंच का भी कष्ट नहीं हुआ था।

वसुदेव और देवकी के सबसे छोटे पुत्र ने जन्म लिया, तो सारी द्वारका महकते फूल की तरह खिल उठी और एक-एक कली खिल गयी कृष्ण के माधुर्यपूर्ण हृदय की, अपने सुकोमल, सुन्दर अनुज के लिए। इसीलिए उसका नामकरण किया गया- गजसुकुमार। गजसुकुमार का लालन-पालन पाँच धायों के माध्यम से होने लगा। माता देवकी के हर्ष का तो कहना ही क्या ? जब गजसुकुमार बाल भाव से उन्मुक्त हुए कि सहसा एक घटना घट गयी घटना इस प्रकार है-

भगवान नेमिनाथ का पदार्पण हुआ। कृष्ण ने भगवान के दर्शन-वन्दन हेतु जाने का निश्चय किया। गजसुकुमार ने कहा- मैं भी भगवान के दर्शन करने चलना चाहता हूँ। वे भी हाथी के हौदे पर कृष्ण के पीछे बैठ गये। गजसुकुमार भी कृष्ण के साथ भगवान की सेवा में पहुँच गया।

राज-प्रासाद से सहस्राम उद्यान जाते हुए मार्ग में एक और घटना घटी। कृष्ण की दृष्टि अचानक एक मकान की छत पर पड़ी,

जहाँ एक कमनीय किशोरी खेल रही थी। उनके मन में आया- यह गजसुकुमार के लिए सर्वथा योग्य है- आकर्षक जोड़ी रहेगी। उन्होंने उसी समय कन्या के पिता सोमिल ब्राह्मण को बुलाया और उससे अपने भाई के लिए उसकी कन्या की माँग की। सोमिल तो फूला नहीं समाया- उसकी पुत्री राजरानी बनेगी, उससे बढ़कर उसका क्या सौभाग्य हो सकता है ? उसने सहर्ष कृष्ण के प्रस्ताव को मान लिया और गजसुकुमार के भव्य व्यक्तित्व को निहारता रहा।

कृष्ण के साथ गजसुकुमार ने भगवान के दर्शन किये, उनकी पद-वन्दना की और धर्म-देशना श्रवण की। भगवान की वाणी से उसका हृदय ऐसा भींज गया कि उसका अन्तर्मन विरागी ही नहीं बना, अपितु तत्काल साधु-धर्म स्वीकार करने के लिए संकल्पबद्ध हो गया। घर लौटकर उसने अपना अटल संकल्प सबके समक्ष प्रकट कर दिया। सभी भाव-विह्वल हो उठे। माता देवकी तो मूर्छित ही हो गयी। शीतलोपचार से मूर्च्छा तो दूर हो गयी, पर उसका रुदन नहीं रुका। उसने रोते-रोते ही गजसुकुमार से कहा- बेटा ! मैं ने कितने भाव संजोये थे, क्या मेरे भावों का महल ऐसे ही ढह जायेगा ? इस प्रकार से उसे दीक्षा न लेने के लिए बहुत समझाया। कृष्ण ने तो अपनी सारी कलाचातुरी लगा दी। उन्हें राज तख्त पर भी बिठा दिया, पर गजसुकुमार का वैराग्य सुदृढ़ था। अंततोगत्वा भगवान के चरणों में वे गजसुकुमार मुनि बन ही गये। उन्होंने दीक्षित होते ही भगवान से निवेदन किया- भगवन् मैं शीघ्र मुक्ति चाहता हूँ। इसलिए मुझे ऐसा मार्ग दिखायें, जिस पर चलकर मैं अतिशीघ्र मुक्ति को वर लूँ।

भगवन के समक्ष तो उनका सारा भविष्य खुला पड़ा था। प्रातः दीक्षित हुए और संध्या को ही मुनि गजसुकुमार ने भगवान से बारहवीं भिक्षु प्रतिमा अंगीकार करने की अनुज्ञा प्राप्त की और वे महाकाल श्मशान भूमि में ध्यानस्थ होने के लिए पधार गये।

संध्या व्यतीत हो चुकी थी और अंधेरे में काली चादर धीरे-धीरे धरती पर फैलती जा रही थी। श्मशान का दृश्य वीभत्स था। कहीं

चिताएँ जल रही थीं, कहीं मानव-अस्थियाँ बिखरी पड़ी थी। तो चारों ओर मांस मज्जा जलने की दुर्गंध फैली हुई थी। वहीं उसी दिन के दीक्षित मुनि गजसुकुमार प्रतिमा में अवस्थित होकर ध्यान-मुद्रा में खड़े हुए थे।

उस समय समिधा लेने के लिए सोमिल ब्राह्मण उधर से निकला और उसने गजसुकुमार को मुनि वेष में देखा। यह देख वह भौंचक्का रह गया। कहाँ तो वह दिन-भर प्रसन्नता से मदमाता बना घूम रहा था कि उसकी पुत्री राजरानी बनेगी और कहाँ यह धूर्तता का व्यवहार सामने है कि राजकुमार गजसुकुमार उसका जामाता न बनकर मुनि बन गया है ? मेरी रूपसी पुत्री के साथ धोखा क्यों किया गया ? जब दीक्षा ही लेनी थी, तो मेरी पुत्री से सम्बन्ध निश्चित करने की क्या आवश्यकता थी ? यह तो उसकी पुत्री का एवं उसका घोर अपमान हुआ है। सोच-सोचकर सोमिल क्रोधावेश में पागल बन गया। उसका वैरभाव आक्रामक हो उठा।

सोमिल को कुछ भी भान न रहा। क्रोध और वैरभाव से वह उबल रहा था। पास की तलैया से वह गीली मिट्टी लाया और उसकी उसने मुनि के मस्तक पर चारों ओर पाल बाँधी। पूरी ऊँचाई के साथ पास की चिता में से धधकते हुए खैर लकड़ी के अंगारे वह भर लाया। उसने वे अंगारे उनके मस्तक पर उड़ेल दिये और प्रतिशोध- पूर्ति की सांसें छोड़ता हुआ वहाँ से तुरन्त भाग निकला।

परिजनों के अमित प्यार और श्रेष्ठ राजसुखों में पला मुनि गजसुकुमार का शरीर सुन्दरता ही नहीं, सुकोमलता की प्रतिमूर्ति था। उनकी चमड़ी को कभी एक खरौंच का भी कष्ट नहीं हुआ था। दीक्षा का भी पहला ही दिन था, तो संयम के परीषह भी उस शरीर ने नही सहे थे। उसी शरीर के मस्तक पर ढेर सारे धधकते हुए अंगारे ? क्या उस पीड़ा की कल्पना भी की जा सकती है ? उसके यथावत् वर्णन का तो न जिह्वा में सामर्थ्य माना जा सकता है, न लेखनी में। उस अपार एवं अकल्पनीय पीड़ा से तनिक भी विचलित नहीं हुए वे महान् मुनि।

शरीर की सुकुमारता धू-धू करके जल रही थी, इसका इन्हें कोई विचार नहीं था, क्योंकि उसके साथ ही उनकी आत्मा की सुकुमारता उभर रही थी, अणु-अणु में व्याप्त हो रही थी और भावनाओं में समभाव की सुवास भर रही थी। उनकी आत्मानुभूति स्पष्ट थी। वे सुदृढ़ता के साथ खड़े रहे। मुनि गजसुकुमार की आत्मा अविचल थी और शरीर अडिग।

मस्तक के बाल जले, चमड़ी चली और मांस व मज्जा जलने लगे। आग सारे शरीर तक फैलती गयी। शरीर जलता रहा, सोना दमकता रहा और वह सोना कुन्दन बन गया।

भगवान ! मैं नव दीक्षित मुनि गजसुकुमार के दर्शन करना चाहता हूँ। एक दिन का दीक्षाकाल कैसे व्यतीत हुआ है, मेरे सुकुमार अनुज का ? कृष्ण जब दूसरे दिन भगवान की पद-वन्दना करने सहस्राम्र उद्यान में पहुँचे, तो उन्होंने अनुरागवश भगवान से यह अनुज्ञा चाही।

वह तो कृतकृत्य हो गया, कृष्ण ! भगवान ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

मैं समझा नहीं प्रभु ! उस तरुण ने कल ही तो दीक्षा ग्रहण की थी और आज ही भला, वह कृतकृत्य कैसे हो गया ? कृष्ण अतीव उत्कंठा एवं जिज्ञासा के साथ भगवान का परम तेजयुक्त मुखमंडल निहारते रहे।

भगवान ने समाधान फरमाते हुए कहा- कृष्ण ! अभी तुम जिस मार्ग से दर्शन करने आ रहे थे। तब तुमने एक जर्जरकाय वृद्ध को लकड़ी के सहारे चलते हुए ईंट के ढोर से एक ईंट उठाकर ले जाते हुए देखा। तुम्हें उस पर करुणा आयी तुमने उसकी एक ईंट उठायी और घर के भीतर रखदी। तुम्हारे साथ चलनेवालों ने तुम्हारा अनुकरण किया, जिससे उस वृद्ध का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। उसी प्रकार गजसुकुमार को भी सहयोगी मिल गया। जिससे उसका कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया।

भंते ! तो क्या मेरा अनुज अब इस संसार में नहीं रहा ? कौन था वह अनार्य, जिसने ऐसा दुष्कर्म करने का दुस्साहस किया ?

कृष्ण ! किसी पर दुर्भाव लाना उचित नहीं। जब तुम यहाँ से लौटते हुए जाओगे, उस समय जो व्यक्ति तुम्हें देख धड़ाम से पृथ्वी पर गिर जाये, समझ लेना वही तुम्हारे भाई का सहयोगी बना।

श्रीकृष्ण के शोकपूर्ण व्यथा-भाव की कोई सीमा नहीं थी। भारी मन से जब वे लौटे, तो राजमार्ग से नहीं जाकर भीतर के मार्ग से जा रहे थे।

जब सोमिल ने यह सुना कि श्रीकृष्ण भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने गये हैं, तो वह समझ गया कि सत्य छिपा हुआ नहीं रहेगा। इस कारण वे वापिस नगर में लौटें, उससे पहले नगर से भाग जाने में ही उसकी प्राण-रक्षा है। इसी भीति से वह भागता हुआ चला आ रहा था कि श्रीकृष्ण का सामना हो गया। उन को देख उसका भयभीत मन डर गया, उसके प्राणपंखेरु उड़ गये।

कृष्ण ने यह दृश्य देखा, तो वे जान गये कि यही वह दुष्ट है, जिसने उसके भाई को भीषण परीषह दिया। अनुचरों से कह उसकी लाश को एक तरफ फिंकवा दिया। उस पर क्रोध तो बहुत आ रहा था। पर अब उस पर किये गये क्रोध की सार्थकता भी क्या ?

स्रोत : अन्तकृत दशांग सूत्र

सार : सहनशक्ति की कोई सीमा नहीं होती। ऐसी सहनशक्ति ही समता-भाव की पूर्णता में अभिव्यक्त होती है।

❖ ❖ ❖

वह बड़बोला बुड्ढा

जिसकी जीवन-दृष्टि में जितना विवेक का समावेश है, उतना ही वह सुख का स्वामी है। विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि ही, सच्ची जीवन-दृष्टि होती है।

संसार में सभी प्राणी जीते हैं, सभी प्राणी मरते हैं। जीवन और मरण यह एक सामान्य प्रक्रिया है। इस सामान्यता में असामान्यता का कोई वर्गीकरण किया जाये, तो उसका आधार सार्थकता ही हो सकता है। किसी का जीना कितना सार्थक है अथवा मरना कितना सार्थक है। यही दृष्टि जीवन और मरण को वर्गीकृत करती है।

इस जीवन-दृष्टि के चार रूप देखे जा सकते हैं। किसी का जीवन सार्थक होता है, वह जीता है, स्वहित में कम और परहित में अधिक। वह मुस्कराते हुए फूलों को खिलाता है और रोते हुए चेहरों पर मुस्कुराहटें बिखेरता है। किसी का मरण सार्थक होता है। वह मरण उसे जीवन की पूर्णता प्रदान करता है। किसी के जीवन और मरण अपने स्तर से दोनों सार्थक होते हैं, तो किसी के जीवन और मरण दोनों ही निरर्थक होते हैं। जब जीवन-दृष्टि इन चार रूपों में समाहित होती है, तब वह निरर्थकता से सार्थकता की दिशा में गतिशील बनती है। वह प्रत्येक कृत्य को सार्थकता के आधार पर ही तौलती है और उसे उच्चतर वर्गीकरण की ओर मोड़ती है।

एक बार भगवान महावीर की धर्मसभा जुड़ी हुई थी। इसमें जहाँ महाराज श्रेणिक, महामंत्री अभय कुमार आदि अभिजात्य वर्ग के व्यक्ति बैठे हुए थे, तो एक ओर राजगृह का काल रूप शौकारिक कसाई भी कौतूहल से भगवान का धर्मोपदेश सुन रहा था। सभी श्रोताओं का ध्यान भगवान के मुखमंडल पर केन्द्रित था।

तभी एक विचित्र घटना घटित हुई। एक अजीब सा बुड्ढ़ा धड़ल्ले से उस धर्मसभा में घुस आया और आया ही नहीं, बल्कि सारी भीड़ को चीरता हुआ आगे तक पहुँच गया। वह बुड्ढा अजीब इस लिए था कि सारा शरीर जर्जरित, कुष्ठ रोग फूटा हुआ, अंग-अंग से बहता हुआ पीप, फटे-पुराने चिथड़े जैसे वस्त्र और अदर्शनीय आकृति। उसके बोलते ही यह भी ज्ञात हुआ कि वह बड़बोला है। उसके हावभावों ने यह भी स्पष्ट किया कि वह वक्र, उद्धत और अविनीत भी है।

धर्मसभा में खड़े होकर इस बुड्ढे ने सभा के नायक की ओर देखा तक नहीं। श्रद्धा या विनय दिखाना तो दूर की बात, उसने महाराजा श्रेणिक की ओर मुख किया और कहा सम्राट ! तुम जीते रहो।

उस बुड्ढे का रुख सबको बुरा लगा, इस कारण कि उसने भगवान को वंदन तो नहीं ही किया, पर सबसे पहले उनकी ओर रुख भी नहीं किया और सम्राट की खुशामद में पहला वाक्य बोला।

परन्तु उस बुड्ढे के दूसरे वाक्य ने तो सबको हतप्रभ ही कर दिया। वह भगवान की ओर मुड़ा और बोल पड़ा- तुम मर जाओ। सबकी हतप्रभता रोष में बदलने लगी। स्वयं सम्राट की भौहें तन गयी। वह सोचने लगे- यह तो धर्मसभा है, यहाँ कोई ऊँच-नीच नहीं। यह कौन बड़बोला बुड्ढा है, जो सम्राट को सम्राट मानकर उसे जीने का आशीर्वाद देता है ओर सम्राटों के सम्राट तीर्थंकर देव के प्रति ऐसे अशुभ शब्दों का उच्चारण करता है ? श्रेणिक तब भी चुप रहा, क्योंकि इस धर्मसभा में उसे भी किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं है। वह शान्तिपूर्वक देखता रहा।

वाक्य पर वाक्य -उस बुड्ढे का तीसरा वाक्य सबको आश्चर्य में डाल देने वाला था। वह महामंत्री अभयकुमार की ओर मुड़ा और कहने लगा- तुम चाहे जीओ, चाहे मरो।

तभी उसने काल शौकरिक कसाई को सम्बोधित करते हुए कहा- तुम न मरो और न जीओ। यह उसका चौथा वाक्य था।

उस धर्मसभा में उपस्थित सभी लोग उस बुड्ढे को क्रोध और आश्चर्य से देखने लगे, जो न जाने क्या बकवास कर रहा है- किसी को कुछ कह देता है और किसी को कुछ। अपने आपको वह क्या समझता है, जो निरर्थक बातें बोल रहा है ? कौन है यह बुड्ढा ? कहाँ से आया है और उसके ऐसे विनयरहित गर्भित वाक्यों को बोलने का कारण क्या है ? सब ऐसी कानाफूंसी कर ही रहे थे कि यह क्या?

वह बुड्ढा तो पलक झपकते ही गायब हो गया। तब तो सभी की जिज्ञासा उग्र हो उठी। उन सारे रहस्य-वाक्यों को तथा उस रहस्य पुरुष को जान लेने की और समाधान का एक ही माध्यम था- प्रभु के वचन।

जैसे सबकी ओर से श्रेणिक ने ही भगवान महावीर से पृच्छा की-प्रभु ! यह बड़बोला बुड्ढ़ा कहाँ से आया और कहाँ चला गया ? वह जिन चार वाक्यों का उच्चारण कर गया, वे केवल बकवास हैं या उनका कोई गूढ़ अर्थ भी है ? इस धर्मसभा में सभी इसी जिज्ञासा में डूबे हुए हैं, आप कृपा करके हम सबको वास्तविकता से परिचित बनायें।

भगवान फरमाने लगे- राजन ! वह बुड्ढ़ा कोई मानव नहीं था, देव था और उस के द्वारा कथित वाक्यों में कोई प्रलापपूर्ण अनर्गलता नहीं थी, जीवन-दृष्टि का अमर सत्य छिपा हुआ था।

प्रभु, यदि ऐसा है, तो उस सत्य के दर्शन हमें भी कराइए ताकि जीवन-दृष्टि के यथार्थ को हम समझ सकें। सर्वप्रथम मैं अपने लिए ही पूछूं कि उसने मुझे क्या समझकर जीते रहने की बात कही?

श्रेणिक ! इस कथन के फलितार्थ को समझना होगा। आज तुम्हारे सामने और तुम्हारे नियंत्रण में भौतिक ऐश्वर्य की अतिशय विपुलता है। राजपद पर रहते हुए तुम अपनी प्रजा का हित भी साध रहे हो। असल में तुम्हारा वर्तमान जीवन सुन्दर पुष्पों की सुहावनी सेज है। इस सेज पर तुम जितने अधिक काल तक लेटे रहो, उतना ही तुम्हारे लिए सुखकारी है, क्योंकि मरने के बाद तो तुम्हें नारकीय जीवन व्यतीत करना है। इसी दृष्टि से उसने तुम्हें जीते रहने की बात कही है।

एक बार तो राजा श्रेणिक अपने भावी के सम्बन्ध में कथित कटु सत्य से काँप उठा। उसने अपने-आप को सम्हाला, धैर्य से सबल बनाया और भगवान से आगे पूछा- प्रभु ! एक सत्य तो आपने समझाया, किन्तु क्या आप जैसे अनन्त दया के स्वामी को वह मरने की बात कह गया, उसमें कोई सत्य हो सकता है ?

अवश्य, राजन ! अवश्य। उसमें भी अमर सत्य हैं। संसार के बीज रूप राग और द्वेष को नष्ट कर देने के बाद ही वीतराग और अर्हत बना जाता है, फिर भी जब तक उसका जीवन रहता है, उसकी आत्मा पूर्णता को प्राप्त नहीं होती। कारण, आध्यात्मिक उन्नयन का सर्वोच्च शिखर होता है सिद्ध या निर्वाण पद एवं वह पद उस जीवन की समाप्ति के पश्चात् ही प्राप्त होती हैं। वर्तमान जीवन में आत्म-विशुद्धि की पूर्णता के उपरान्त भी यह देह का बंधन लगा रहता है, जो आत्मा की शाश्वत पूर्णता का अवरोध करता है। इसीलिए उसने मुझे मर जाने की बात कही थी, क्योंकि मरने से ही बन्धन-मुक्ति होगी।

यह सत्य सुनकर सबकी आँखें फटी की फटी रह गयी। मरण की सार्थकता का रहस्य सबके सामने उभर आया। जीवन कैसा भी हो, उसके अस्तित्व में आत्मा को पूर्णता नहीं मिलती, उसके लिए उस जीवन का मरण ही सार्थक बनता है।

दो प्रश्नों का समाधान हुआ। सब की विचार-सरणियाँ जीवन और मरण की दृष्टियों में तथा उनसे उत्पन्न रहस्यों में डूबने- उतराने लगीं। तभी श्रेणिक ने तीसरे वाक्य की ओर भगवान का ध्यान

आकर्षित किया और जानना चाहा कि अभय कुमार के लिए जीने-मरने की दोनों बातें एक साथ कहने का क्या रहस्य है ? भगवान ने उस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया- राजन ! तुम्हारा महामंत्री अभयकुमार सजग जीवन-दृष्टि का धनी है। उसके जीवन में भी सभी प्रकार के सुखोपभोग उपलब्ध है और वह उनका भोग करता भी है। तदपि वह भोगों में डूबकर भ्रमित बना हुआ नहीं है। वह त्याग के महत्व को भी भली-भाँति समझता है। वह वर्तमान में भी भय और शोकरहित होकर सुखी है तथा भावी में भी उसे सुखपूर्ण परिस्थितियाँ ही प्राप्त होंगी, अतः वह यहाँ जीये तो ठीक और मरे, तो भी ठीक, क्योंकि दोनों ओर सुख ही सुख है। उस बुड्ढे के कथन कि चाहे जीओ या मरो का यही फलितार्थ है।

अभयकुमार के दोनों ओर से सुख की बात सुनकर श्रेणिक को अपना जीवन निरर्थक-सा लगने लगा कि उसका भविष्य अंधकारमय है। आज चाहे जो है, किन्तु आनेवाले कल का भविष्य राजा को अति व्यथित किये हुए था। फिर भी जीवन-दृष्टियों का वैविध्य तो उसे समझना ही था, उसने करबद्ध होकर भगवान से अन्तिम समाधान पूछा। भगवन ! काल शौकरिक कसाई को जो उसने न मरने और न जीने की बात कही, उस सत्य को भी स्पष्ट कर दीजिए। न मरने और न जीने की जीवन-दृष्टि कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है।

हाँ राजन ! इस जीवन-दृष्टि का मूल है निरर्थकता में, जहाँ जीवन का अर्थ ही लुप्त है। इस काल शौकारिक का वर्तमान जीवन क्रूरता, दरिद्रता और घृणा से भरा हुआ है, अति दुःखपूर्ण है एवं महापाप के फलस्वरूप इस का भावी भी वैसा ही दुःखपूर्ण होनेवाला है। यहाँ भी नरक-सा जीवन है और आगे भी नरक है। उसके लिए न यहाँ सुख शान्ति है और न आगे भी सुखशान्ति है, इसलिए उसका न मरना अच्छा और न जीना।

महाराजा श्रेणिक के साथ सारी धर्मसभा भगवान के मुख से

जीवन-दृष्टि के इन सब रूपों को समझकर श्रद्धावनत हो गयी। सबके समक्ष यह रहस्य स्पष्ट हो गया कि जिसकी जीवन-दृष्टि में जितना विवेक का समावेश है, उतना ही वह सुख का स्वामी है। विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि ही, सच्ची जीवन-दृष्टि होती है।

स्रोत : त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र।

सार : सम्यक् जीवन सहित दृष्टि से ही जीवन का विकास सधता है और आत्मा की पूर्णता प्राप्त होती है।

❖ ❖ ❖